जिनागम में द्वादशानुप्रेक्षा

-संकलनकर्त्री-
गणिनीप्रमुख आर्यिका ज्ञानमती

बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य
चारित्रचक्रवर्ती
श्री शांतिसागर जी महाराज

आचार्य श्री शांतिसागर जी के
प्रथम पट्टाधीश एवं पूज्य गणिनी
श्री ज्ञानमती माताजी के आर्यिका दीक्षागुरु
आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज

जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी परमपूज्य
गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 373
ISBN-978-93-82071-53-2

जिनागम में द्वादशानुप्रेक्षा

(श्री कुंदकुंददेव-श्री शुभचन्द्राचार्य-श्रीपूज्यपाद स्वामी-
श्री अमृतचन्द्रसूरि विरचित)

–संकलनकर्त्री –

जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी,
दो बार डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत
परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी

शरदपूर्णिमा महोत्सव-2012, पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के 61वें त्यागदिवस के अवसर पर घोषित चारित्रवर्धनोत्सव वर्ष 2012-2013 के अवसर पर प्रकाशित

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.
फोन नं.- (01233) 280184, 280994
Website : www.jambudweep.org, E-mail : jambudweeptirth@gmail.com
Facebook : jaintirthjambudweep

प्रथम संस्करण	वीर नि. सं. 2539	मूल्य
1100 प्रतियाँ	चैत्र कृ. एकम्, 28 मार्च 2013	28/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित होती रहती हैं।

–: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :–

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

–: मार्गदर्शन :–

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी
(पीएच.डी. की मानद उपाधि से अलंकृत)

–: निर्देशक एवं सम्पादक:–

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

–: प्रबंध सम्पादक :–

जीवन प्रकाश जैन

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

सम्पादकीय

–कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामी जी

आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव ने श्रावकों के लिए षट्आवश्यक कर्त्तव्य बताए हैं जिसमें देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान को लिया है और उसमें भी मुख्यरूप से 'दाणं पूजा मुक्खो' दान और पूजन को मुख्य बताया है, जिसके बिना वह श्रावक कहलाने का अधिकारी नहीं है।

वर्तमान में पूजन–विधान के क्षेत्र में जैन समाज की अमूल्य धरोहर के रूप में महान प्राचीन साध्वी परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने एक कीर्तिमान स्थापित किया है। उन्होंने न केवल पूजन–विधान अपितु न्याय, व्याकरण, अध्यात्म, सिद्धान्त, भूगोल, छन्द, अलंकार आदि प्रत्येक विषयों से समन्वित अनेक उच्च कोटि के ३०० ग्रंथों का सृजन किया है उनका यह योगदान जिनशासन के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। वास्तव में बीसवीं शताब्दी गौरवशाली है जब उसे साक्षात् सरस्वतीस्वरूपा पूज्य माताजी प्राप्त हुई हैं जिन्होंने जैनागम के चतुरनुयोगों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर सरल, सरस, मिष्ट और सारगर्भित कृतियाँ हमें प्रदान कीं, जिन्हें वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला से प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त गौरव का अनुभव होता है।

यह हम सभी का परम सौभाग्य ही है कि हमें इस कलिकाल में भी पूज्य माताजी जैसी महान साध्वी के दर्शन के साथ–साथ उनके द्वारा किए जा रहे तीर्थ निर्माण, साहित्य लेखन, आर्षमार्ग का संरक्षण, संवर्धन आदि महानतम कार्यों को देखने तथा उसमें अपनी सहभागिता प्रदान करने का भी सुअवसर प्राप्त हो रहा है। आज के प्रगतिवादी युग में धर्म से विमुख प्राणियों में धर्म का संचार करने के लिए पूज्य माताजी द्वारा लिखित पुस्तकें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं जिसमें से एक पुस्तक "द्वादशानुप्रेक्षा" है जिसमें वर्णित है कि यह संसार असार है, यहाँ मात्र स्वार्थ का ही नाता है और ऐसे में हमें देव–शास्त्र–गुरु की भक्ति करते हुए इन संसार, शरीर व भोगों से विरक्तचित्त होकर धर्म की शरण लेना चाहिए और क्रम से अविनश्वर सुख की प्राप्ति करनी चाहिए।

वस्तुतः अगर आज का प्राणी जैनागम में वर्णित इन सिद्धान्तों को अपना लेवे तो विश्व में फैली अशान्ति, अराजकता और आतंकवाद जैसी गंभीर समस्याएं स्वतः ही हल हो जाएंगी। अतएव पूज्य माताजी की प्रत्येक कृति से जीवनोपयोगी शिक्षाएँ लेते हुए आप सभी अपने जीवन को समुन्नत बनावें और ये बारह भावनाएँ भव्य प्राणी के कल्याण में निमित्तभूत बनें, यही इस पुस्तक के प्रकाशन की सार्थकता है।

क्यों महत्त्वपूर्ण है यह द्वादशानुप्रेक्षा पुस्तक ?

–आर्यिका चन्दनामती

"जिनागम में द्वादशानुप्रेक्षा" नामक यह पुस्तक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी, आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि, आचार्य श्री उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र को आधार बनाकर आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी आदि ने द्वादश अनुप्रेक्षाओं का जो वर्णन अपने–अपने ग्रंथों में किया है वह निश्चितरूप से पठनीय है।

इन बारह भावनाओं में थोड़ा–थोड़ा अन्तर है उसी को दर्शाने हेतु परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने इस पुस्तक का संकलन किया है। पूज्य माताजी के सम्यक्त्व की दृढ़ता वास्तव में अत्यन्त सराहनीय है। अपने पूर्वाचार्यों के प्रति उनकी अगाढ़ श्रद्धा हम सबके लिए अनुकरणीय है। उनका मानना है कि हमें उन महान आचार्यों की किसी भी कृति में कोई संशोधन या परिवर्तन–परिवर्धन नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह एक नैतिक अपराध है।

आप इस पुस्तक में पाएंगे कि छह प्रकार की बारह भावनाएँ हैं, उनमें से श्री कुंदकुंदाचार्य की वारसणुपेक्खा एवं मूलाचार इन दो ग्रंथों में वर्णित प्राकृत की बारह भावनाओं का क्रम एक जैसा है। पुनः श्री शुभचन्द्राचार्य रचित ज्ञानार्णव ग्रंथ की बारह भावनाओं के क्रम में कुछ अन्तर है तथा उसके बाद श्री उमास्वामी आचार्यरचित तत्त्वार्थसूत्र एवं उनकी टीकाओं के अनुसार बारह भावनाओं का क्रम तो वर्तमान में प्रचलित ही है। उसी क्रमानुसार मंगतराय, भूधरदास, पं. दौलतराम आदि की बारह भावनाएँ पढ़ने की समाज में खूब परम्परा है।

पुनश्च इस पुस्तक में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा रचित कन्नड़ की बारह भावना में क्रम उमास्वामी आचार्य वाला ही है। इसको कर्नाटक प्रान्त में बहुत ही श्रद्धा से पढ़ते हैं। अन्त में मेरे द्वारा रचित अंग्रेजी की बारह भावना भी वर्तमान में प्रचलित क्रमानुसार ही है। वर्तमान पीढ़ी की रुचि के अनुसार बिल्कुल सरल अंग्रेजी में लिखी गई यह बारह भावना बच्चों के लिए विशेष पठनीय है।

इस पुस्तक के पीछे छिपे मूल रहस्य को जानने के लिए आप सभी पाठक पूरी पुस्तक को आद्योपान्त अवश्य पढ़ें और पूर्वाचार्यों की वाणी पर श्रद्धान करके किसी की कृति में संशोधन–परिवर्तन आदि न करने का सर्वथा संकल्प कर लें। सबके ज्ञान–वैराग्य की वृद्धि हो और एक दिन आत्मतत्त्व की सिद्धि हो यही भगवान जिनेन्द्र से प्रार्थना है।

प्रस्तावना

–ब्र. कु. इन्दु जैन (संघस्थ)

अनु + प्र + ईक्षणं अनुप्रेक्षा, इस व्युत्पत्ति के अनुसार पदार्थ के स्वरूप को प्रकर्षता के साथ बार-बार देखना—विचार करना अनुप्रेक्षा कहलाती हैं। ये अनुप्रेक्षाएँ लोक में बारह भावनाओं के नाम से प्रचलित हैं।

प्राचीन पूर्वाचार्यों की स्तुत्य श्रृँखला में आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी ने स्वरचित ग्रंथ कुन्दकुन्द भारती एवं मूलाचार में बारह अनुप्रेक्षाओं का क्रम इस प्रकार रखा है—

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्ण संसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जर धम्मं बोहिं च चिंतेज्जो।।

ज्ञानार्णव ग्रंथ में आचार्य श्री शुभचंद्र ने अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, लोक और बोधिदुर्लभ इस प्रकार बारह भावनाओं का क्रम लिया है। जबकि आचार्यश्री पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्द्धसिद्धि ग्रंथ में अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इस प्रकार क्रम लिया है। श्री अमृतचन्द्रसूरि ने तत्त्वार्थसार ग्रंथ में आचार्य पूज्यपाद स्वामी वाला क्रम ही रखा है। वर्तमान में जनमानस में तत्त्वार्थसूत्रकार के द्वारा निर्धारित क्रम ही प्रचलित है। बारह भावनाओं का चिन्तवन मुनिगण प्रतिक्षण करके असंख्य कर्मों की निर्जरा करते हैं और श्रावक भी प्रतिदिन इन बारह भावनाओं का पारायण कर संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होने की भावना कर महान पुण्य का संचय करते हैं उन श्रावकों में चक्रवर्ती सम्राट भरत का उदाहरण जगप्रसिद्ध है, जो 'घर में रहकर भी वैरागी' थे।

ग्रंथ लेखन की श्रृँखला को आगे बढ़ाते हुए पूज्य माताजी ने "द्वादशानुप्रेक्षा" नामक इस वैराग्यवर्धक कृति का संकलन किया है जिसमें अनेक आचार्यों के द्वारा अपने-अपने क्रम से लिखित द्वादश अनुप्रेक्षाएँ हैं जिन्हें पढ़कर प्रतिपल-प्रतिक्षण आप सभी अपने अन्तर में बारह भावनाओं का चिन्तन करें और संसार में रहकर भी सदैव वैराग्य भावों को वृद्धिंगत करते हुए संसार, शरीर, भोगों से मोह छोड़कर वीतराग अवस्था की प्राप्ति करने में सक्षम हों, यही शुभेच्छा है।

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त-परिचय

–प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

जन्मस्थान—टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.

जन्मतिथि—आसोज सुदी १५ (शरदपूर्णिमा) वि. सं. १९९१, (२२ अक्टूबर सन् १९३४)

जाति—अग्रवाल दि. जैन, **गोत्र**—गोयल, **नाम**—कु. मैना

माता-पिता—श्रीमती मोहिनी देवी एवं श्री छोटेलाल जैन

आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत—ई. सन् १९५२, बाराबंकी में शरदपूर्णिमा के दिन

क्षुल्लिका दीक्षा—चैत्र कृ. १, ई. सन् १९५३ को महावीरजी अतिशय क्षेत्र (राज.) में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से। नाम—क्षुल्लिका वीरमती

आर्यिका दीक्षा—वैशाख कृ. २, ई. सन् १९५६ को माधोराजपुरा (राज.) में चारित्रचक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शांतिसागर जी की परम्परा के प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के करकमलों से।

साहित्यिक कृतित्व—अष्टसहस्री, समयसार, नियमसार, मूलाचार, कातंत्र-व्याकरण, षट्खण्डागम आदि ग्रंथों के अनुवाद/टीकाएं एवं लगभग ३०० ग्रंथों की लेखिका।

डी.लिट्. की मानद उपाधि—सन् १९९५ में अवध वि.वि. (फैजाबाद) द्वारा एवं तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय मुरादाबाद द्वारा ८ अप्रैल २०१२ को "डी.लिट्." की मानद उपाधि से विभूषित।

तीर्थ निर्माण प्रेरणा—हस्तिनापुर में जंबूद्वीप, तेरहद्वीप, तीनलोक आदि रचनाओं के निर्माण, शाश्वत तीर्थ अयोध्या का विकास एवं जीर्णोद्धार, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ का निर्माण, तीर्थंकर जन्मभूमियों का विकास यथा—भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार) में 'नंद्यावर्त महल' नामक तीर्थ निर्माण, भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकन्दी तीर्थ (निकट गोरखपुर-उ.प्र.) का विकास, भगवान पार्श्वनाथ केवलज्ञानभूमि अहिच्छत्र तीर्थ पर तीस चौबीसी मंदिर, हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की ३१-३१ फुट उत्तुंग खड्गासन प्रतिमा, मांगीतुंगी में निर्माणाधीन १०८ फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव की विशाल प्रतिमा, महावीर जी तीर्थ पर महावीर धाम में पंचबालयति मंदिर, शिर्डी में ज्ञानतीर्थ इत्यादि।

महोत्सव प्रेरणा—पंचवर्षीय जम्बूद्वीप महामहोत्सव, भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव, अयोध्या में भगवान ऋषभदेव महाकुंभ मस्तकाभिषेक, कुण्डलपुर महोत्सव, भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव, दिल्ली में कल्पद्रुम महामण्डल विधान का ऐतिहासिक आयोजन इत्यादि। **विशेषरूप से २१ दिसम्बर २००८ को जम्बूद्वीप स्थल पर विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसका उद्घाटन भारत की तत्कालीन राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील द्वारा किया गया।**

शैक्षणिक प्रेरणा—'जैन गणित और त्रिलोक विज्ञान' पर अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी, राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन, इतिहासकार सम्मेलन, न्यायाधीश सम्मेलन एवं अन्य अनेक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के सेमिनार आदि।

रथ प्रवर्तन प्रेरणा—जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति (१९८२ से १९८५), समवसरण श्रीविहार (१९९८ से २००२), महावीर ज्योति (२००३-२००४) का भारत भ्रमण।

इस प्रकार नित्य नूतन भावनाओं की जननी पूज्य माताजी चिरकाल तक इस वसुधा को सुशोभित करती रहें, यही मंगल कामना है।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान-संक्षिप्त परिचय

—जीवन प्रकाश जैन (प्रबंध सम्पादक)

ईसवी सन् १९७२ में पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से स्थापित उक्त संस्था के द्वारा जम्बूद्वीप रचना के निर्माण हेतु मेरठ (उ.प्र.) के ऐतिहासिक तीर्थ हस्तिनापुर में नशिया मार्ग पर जुलाई १९७४ में एक भूमि क्रय की गई, जहाँ सर्वप्रथम २४वें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी की अवगाहना प्रमाण सात हाथ (सवा दस फुट) ऊँची खड्गासन प्रतिमा विराजमान करने हेतु फरवरी १९७५ में एक लघुकाय जिनालय का निर्माण किया गया, जो सन् १९९० में एक अनोखे 'कमल मंदिर' के रूप में निर्मित हुआ है। यहाँ विराजमान कल्पवृक्ष भगवान महावीर से यह अतिशय क्षेत्र निरंतर प्रगति पथ पर अग्रसर होता हुआ नित्य नये निर्माणों के द्वारा संसार में अद्वितीय पर्यटन स्थल के रूप में प्रसिद्ध हुआ है। इस प्रतिमा के दर्शन करके भक्तगण अपनी मनोकामनाएँ पूर्ण करते हैं।

जम्बूद्वीप निर्माण का प्रथम चरण—जुलाई सन् १९७४ में रखी गई नींव के आधार पर जम्बूद्वीप के बीचोंबीच में सर्वप्रथम आगम वर्णित सुमेरुपर्वत (१०१ फुट ऊँचा) का निर्माण अप्रैल सन् १९७९ में एवं सन् १९८५ में जम्बूद्वीप रचना का निर्माण पूर्ण हुआ। सोलह जिनमंदिरों से समन्वित उस सुमेरुपर्वत के अंदर से निर्मित १३६ सीढ़ियों से चढ़कर श्रद्धालु भक्त समस्त भगवन्तों के दर्शन करके जब सबसे ऊपर पाण्डुकशिला के निकट पहुँचते हैं, तो नीचे जम्बूद्वीप रचना के सभी नदी, पर्वत, मंदिर, उपवन आदि दृश्यों के साथ-साथ हस्तिनापुर के आसपास के सुदूरवर्ती ग्रामों का भी प्राकृतिक सौंदर्य देखकर फूले नहीं समाते हैं।

यात्री सुविधा—हस्तिनापुर तीर्थ में जम्बूद्वीप स्थल के पूरे परिसर में संस्थान द्वारा कार्यालय का सक्रिय संचालन किया जाता है। वहाँ यात्रियों के ठहरने हेतु आधुनिक सुविधायुक्त २०० कमरे, ५० से अधिक डीलक्स फ्लैट एवं अनेकों गेस्ट हाउस (बंगले) बने हुए हैं। इसके साथ ही यहाँ सुन्दर भोजनालय है जहाँ यात्रियों को सुविधापूर्वक शुद्ध भोजन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त २ किमी. दूर हस्तिनापुर सेन्ट्रल टाउन में सरकारी अस्पताल, डाकखाना, बाजार, इंटरकालेज तथा अन्य शिक्षण संस्थाएँ आदि सभी आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

हस्तिनापुर कैसे पहुँचे ?—भारत की राजधानी दिल्ली से ११० किमी. पश्चिमी उत्तरप्रदेश में जिला-मेरठ से ४० किमी. दूर हस्तिनापुर तीर्थ है। राजधानी दिल्ली से हस्तिनापुर के लिए अंतर्राज्यी बस अड्डे अथवा आनंद विहार बस अड्डे से उत्तरप्रदेश रोडवेज तथा डी.टी.सी. बसों की निरंतर सेवा उपलब्ध है। मेरठ से भी प्रति आधे घंटे के अंतराल से जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर पहुँचने हेतु रोडवेज की बसें सुलभता के साथ उपलब्ध रहती हैं। 'जम्बूद्वीप' के नाम से ये बसें चलती हैं जो सीधे जम्बूद्वीप के सामने ही रुकती हैं और जम्बूद्वीप से ही मेरठ, दिल्ली, तिजारा आदि यात्रा हेतु बसें उपलब्ध रहती हैं। दिल्ली और मेरठ के बीच रेल सेवा भी है। देश-विदेश के यात्रीगण हस्तिनापुर पधारकर इस धरती का स्वर्ग मानी जाने वाली 'जम्बूद्वीप रचना' के दर्शन करें और मानसिक शांति का अनुभव करते हुए मनवांछित फल प्राप्त करें, यही मंगलकामना है।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के शिरोमणि संरक्षक

१. श्रीमती निर्मला जैन ध.प. स्व. श्री प्रेमचन्द्र जैन, सुपुत्र प्रदीप कुमार जैन, रोशनावली, दिल्ली-६।
२. श्रीमती सुमन जैन ध.प. श्री दिग्विजय सिंह जैन, इंदौर।
३. श्री महावीर प्रसाद जैन संघपति, जी-१९, साऊथ एक्सटेन्शन, नई दिल्ली।
४. श्री महेन्द्र पाल हरेन्द्र कुमार जैन, सूरजमल विहार, दिल्ली।
५. श्रीमती मोहनी जैन ध.प. श्री सुनील जैन, प्रीत विहार, दिल्ली।
६. श्री देवेन्द्र कुमार जैन (धारूहेड़ा वाले) गुड़गाँव (हरि.)।
७. श्रीमती शारदा रानी जैन ध.प. स्व. रिखबचंद जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-९२।
८. डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, भोपाल (म.प्र.)
९. श्रीमती संगीता जैन ध.प. श्री संजीव कुमार जैन, शेरकोट (बिजनौर) उ.प्र.
१०. श्री अनिल कुमार जैन, दरियागंज, दिल्ली
११. श्री बी.डी. मदनाइक, मुम्बई
१२. श्री धनकुमार जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-९२।
१३. श्री जितेन्द्र कुमार जैन एवं श्रीमती सुनीता जैन कोटड़िया, फ्लोरिडा, यू.एस.ए.
१४. श्रीमती विमला देवी जैन ध.प. श्री ओमप्रकाश जैन, स्वालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
१५. श्री अमित जैन एवं संभव जैन सुपुत्र श्रीमती अनीता जैन ध.प. श्री मूलचंद जैन पाटनी, दिसपुर (कामरूप) आसाम।
१६. श्रीमती अजित कुमारी जैन ध.प. श्री महेन्द्र कुमार जैन, ओबेदुल्लागंज (रायसेन) म.प्र.।
१७. श्री नाभिकुमार जैन, जैन बुक डिपो, सी-४, पी.वी.आर. प्लाजा के पीछे, वेस्ट प्लेस, नई दिल्ली।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के परम संरक्षक

१. श्री माँगीलाल बाबूलाल पहाड़े, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)।
२. डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, ७९२ विवेकानंदपुरी, सिविल लाइन, सीतापुर (उ.प्र.)।
३. श्री सुमत प्रकाश जैन, गज्जू कटरा, शाहदरा, दिल्ली।
४. श्री सुनील कुमार जैन, द्वारा-सुनील टैक्सटाईल्स, सरधना (मेरठ) उ.प्र.।
५. स्व. श्री प्रकाश चंद अमोलक चंद जैन सर्राफ, सनावद (म.प्र.)।
६. श्री प्रद्युम्न कुमार जवेरी, रोकड़ियालेन, बोरीवली (वेस्ट) मुंबई।
७. श्रीमती उर्मिला देवी ध.प. श्री कान्ती प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
८. श्रीमती उषा जैन ध.प. श्री विमल प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
९. श्री आनन्द प्रकाश जैन (सौरम वाले) , गांधीनगर, दिल्ली।
१०. श्रीमती सरिता जैन ध.प. श्री राजकुमार जैन, किदवई नगर, कानपुर।
११. स्व. श्रीमती कैलाशवती ध.प. श्री कैलाश चन्द्र जैन , तोपखाना बाजार, मेरठ।
१२. श्री भानेन्द्र कुमार जैन, द्वारा-श्री विद्या जैन, भगत सिंह मार्ग, जयपुर।
१३. श्री प्रदीप कुमार शान्तिलाल बिलाला, अनूपनगर, इंदौर, (म.प्र.)।
१४. श्री सुरेशचंद पवन कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।
१५. श्री नथमल पारसमल जैन, कलकत्ता-७।
१६. श्रीमती स्व. शांताबाई ध.प. श्री कमलचंद जैन, सनावद (म.प्र.)।
१७. श्री रूपचंद जैन कटारिया, दिल्ली
१८. श्री आशु जैन, कालका जी, नई दिल्ली
१९. श्री प्रद्युम्न कुमार जैन छोटी सा., श्री अमरचंद जैन सर्राफ, लखनऊ (उ.प्र.)
२०. श्रीमती शशि जैन ध.प. श्री दिनेशचंद जैन, शिवालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
२१. श्रीमती आदर्श जैन ध.प. स्व. श्री अनन्तवीर्य जैन के सुपुत्र श्री मनोज कुमार जैन, मेरठ।
२२. श्रीमती आरती जैन ध.प. श्री प्रकाशचंद जैन 'शीशे वाले', इलाहाबाद (उ.प्र.)।

जिनागम में द्वादशानुप्रेक्षा

(श्री कुंदकुंददेव-श्री शुभचंद्राचार्य-श्री उमास्वामी-श्री अमृतचंद्रसूरिकृत)

अनादिनिधन मूलमंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

मंगलाचरण

तीर्थेशा भावयित्वा या, भावनाः स्वात्मसिद्धये।
दीक्षाकल्याणकं प्रापुः, तेभ्यस्ताभ्यश्च च मे नमः।।१।।

तीर्थंकरों ने जिन भावनाओं को—द्वादश अनुप्रेक्षाओं को भाकर अपनी आत्मा की सिद्धि के लिए दीक्षा लेने को उद्यमशील हुए—दीक्षाकल्याणक प्राप्त किया है। उन तीर्थंकर भगवन्तों को एवं उन बारह भावनाओं को मेरा नमस्कार होवे।।

श्री कुन्दकुन्ददेव ने समयसार, रयणसार, दर्शनपाहुड़ आदि अनेक ग्रंथ लिखे हैं। चौरासी पाहुड़ ग्रंथों का भी कथन आया है किन्तु आज वर्तमान में उनके द्वारा लिखित सोलह ग्रंथ ही उपलब्ध हो रहे हैं। उनमें से यह 'द्वादशानुप्रेक्षा' नाम से एक स्वतंत्र ग्रंथ है। उनके द्वारा रचित मूलाचार ग्रंथ में भी ये ही द्वादश अनुप्रेक्षाएँ हैं यही क्रम है, फिर भी कतिपय गाथाएँ पृथक् हैं एवं इस ग्रंथ की अपेक्षा कम हैं। वर्तमान में प्रचलित बारह भावनाओं से इनका क्रम अलग है।

ज्ञानार्णव ग्रंथ में श्री शुभचंद्राचार्य ने बारह भावना नाम से इन्हें लिया है। इनके क्रम में भी अन्तर है।

पुनः श्री उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थसूत्र में इन बारह अनुप्रेक्षाओं के क्रम में अन्तर है। मूलाचार ग्रंथ के टीकाकार श्री सिद्धान्त चक्रवर्ती वसुनंदि आचार्य ने इन अनुप्रेक्षाओं की टीका लिखते समय जो गाथा में क्रम है वही रखा है। ऐसे ही तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका के कर्ता श्री पूज्यपादस्वामी ने भी यही क्रम रखा है।

इसी तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार तत्त्वार्थसार लिखने वाले श्री अमृतचंद्र सूरि ने भी यही क्रम रखा है। वर्तमान में यही क्रम प्रसिद्धि को प्राप्त है।

इन आचार्यों ने अपने-अपने ग्रंथों में क्रम बदलने का प्रयास नहीं किया है। ऐसे ही आज के विद्वानों को भी इन अनुप्रेक्षाओं—भावनाओं के क्रम को नहीं बदलना चाहिए। जहाँ जो क्रम है वही रखना व पढ़ना चाहिए।

द्वादशानुप्रेक्षा में क्रम में अन्तर

श्री कुंदकुंददेव कृत द्वादशानुप्रेक्षा	ज्ञानार्णव ग्रंथ से द्वादश भावना	तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ से द्वादशानुप्रेक्षा
१. अध्रुव	१. अनित्य	१. अनित्य
२. अशरण	२. अशरण	२. अशरण
३. एकत्व	३. संसार	३. संसार
४. अन्यत्व	४. एकत्व	४. एकत्व
५. संसार	५. अन्यत्व	५. अन्यत्व
६. लोक	६. अशुचि	६. अशुचि
७. अशुचित्व	७. आस्रव	७. आस्रव
८. आस्रव	८. संवर	८. संवर
९. संवर	९. निर्जरा	९. निर्जरा
१०. निर्जरा	१०. धर्म	१०. धर्म
११. धर्म	११. लोक	११. लोक
१२. बोधिदुर्लभ	१२. बोधिदुर्लभ	१२. बोधिदुर्लभ

वारसणुपेक्खा

(द्वादशानुप्रेक्षा)

(श्री कुंदकुंदाचार्यकृत)

मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य

णमिऊण सव्वसिद्धे झाणुत्तमखविददीहसंसारे ।
दस दस दो दो व जिणे दस दो अणुपेहणं बोच्छे ।।१।।

जिन्होंने उत्तम ध्यान के द्वारा दीर्घ संसार का नाश कर दिया है ऐसे समस्त सिद्धों तथा चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार कर बारह अनुप्रेक्षाओं को कहूँगा।।१।।

बारह अनुप्रेक्षाओं के नाम

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं ।
आसवसंवरणिज्जर धम्मं बोहिं च चिंतेज्जो ।।२।।

अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह अनुप्रेक्षाओं का चिंतन करना चाहिये।।२।।

अध्रुव अनुप्रेक्षा

वरभवणजाणवाहणसयणासणदेवमणुवरायाणं ।
मादुपिदुसजणभिच्चसंबंधिणो य पिदिवियाणिच्चा ।।३।।

उत्तम भवन, यान, वाहन, शयन, आसन, देव, मनुष्य, राजा, माता, पिता, कुटुम्बी और सेवक आदि सभी अनित्य तथा पृथक् हो जाने वाले हैं।।३।।

सामग्गिंदियरूवं आरोग्गं जोव्वणं बलं तेजं ।
सोहग्गं लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे ।।४।।

सब प्रकार की सामग्री— परिग्रह, इन्द्रियाँ, रूप, निरोगता, यौवन, बल, तेज, सौभाग्य और सौन्दर्य ये सब इन्द्रधनुष के समान शाश्वत् रहने वाले नहीं हैं अर्थात् सब नश्वरहैं।।४।।

जलबुब्बुदसक्कधणुखणरुचिघणसोहमिव थिरं ण हवे।
अहमिंदट्ठाणाइं बलदेवप्पहुदिपज्जाया ।।५।।

अहमिन्द्र के पद और बलदेव आदि की पर्यायें जल के बबूले, इन्द्रधनुष, बिजली और मेघ की शोभा के समान स्थिर रहने वाली नहीं हैं।।५।।

जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं ।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि ।।६।।

जब दूध और पानी की तरह जीव के साथ मिला हुआ शरीर शीघ्र नष्ट हो जाता है तब भोगोपभोग का कारणभूत द्रव्य— स्त्री आदि परिकर नित्य कैसे हो सकता है ?।।६।।

परमट्ठेण दु आदा देवासुरमणुवरायविभवेहिं ।
वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतए णिच्चं ।।७।।

परमार्थ से आत्मा देव, असुर और नरेन्द्रों के वैभवों से भिन्न है और वह आत्मा शाश्वत है ऐसा निरन्तर चिन्तन करना चाहिये।।७।।

अशरणानुप्रेक्षा

मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहओ य सयलविज्जाओ ।
जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि ।।८।।

मरण के समय तीनों लोकों में मणि, मन्त्र, औषधि, रक्षक सामग्री, हाथी, घोड़ रथ और समस्त विद्याएँ जीवों के लिये शरण नहीं हैं अर्थात् मरण से बचाने में समर्थ नहींहैं।।८।।

सग्गो हवे हि दुग्गं भिच्चा देवा य पहरणं वज्जं ।
अइरावणो गइंदो इंदस्स ण विज्जदे सरणं ।।९।।

स्वर्ग ही जिसका किला है, देव सेवक हैं, वज्र शस्त्र है और ऐरावत गजराज है उस इन्द्र का भी कोई शरण नहीं है— उसे भी मृत्यु से बचाने वाला कोई नहीं है।।९।।

णवणिहि चाउदहरयणं हयमत्तगइंदचाउरंगबलं ।
चक्केसस्स ण सरणं पेच्छंतो कद्दये कालो ।।१०।।

नौ निधियाँ, चौदह रत्न, घोड़े, मत्त हाथी और चतुरङ्गिणी सेना चक्रवर्ती के लिये शरण नहीं हैं। देखते-देखते काल उसे नष्ट कर देता है।।१०।।

जाइजरामरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा ।
तम्हा आदा सरणं बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ।।११।।

जिस कारण आत्मा ही जन्म, जरा, मरण, रोग और भय से आत्मा की रक्षा करता है उस कारण बन्ध, उदय और सत्तारूप अवस्था को प्राप्त कर्मों से पृथक् रहने वाला आत्मा ही शरण है— आत्मा की निष्कर्म अवस्था ही उसे जन्म, जरा आदि से बचाने वाली है।।११।।

अरुहा सिद्धाइरिया उवझाया साहु पंचपरमेट्ठी ।
ते वि हु चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ।।१२।।

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं। चूँकि ये परमेष्ठी भी आत्मा में निवास करते हैं अर्थात् आत्मा स्वयं पञ्चपरमेष्ठीरूप परिणमन करता है इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है।।१२।।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं च सत्तवो चेव ।
चउरो चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ।।१३।।

चूँकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये चारों भी आत्मा में स्थित हैं इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है।।१३।।

एकत्वानुप्रेक्षा

एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे ।
एक्को जायदि मरदि य तस्य फलं भुंजदे एक्को ।।१४।।

जीव अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही दीर्घ संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही कर्म का फल भोगता है।।१४।।

एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण ।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ।।१५।।

विषयों के निमित्त तीव्र लोभ से जीव अकेला ही पाप करता है और नरक तथा तिर्यञ्चगति में अकेला ही उसका फल भोगता है।।१५।।

एक्को करेदि पुण्णं धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण ।
मणुवदेवेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ।।१६।।

धर्म के निमित्त पात्रदान के द्वारा जीव अकेला ही पुण्य करता है और मनुष्य तथा देवों में अकेला ही उसका फल भोगता है।।१६।।

पात्र के तीन भेदों तथा अपात्र का वर्णन

उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू ।
सम्मादिट्ठी सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेओ ।।१७।।
णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तो त्ति ।
सम्मत्तरयणरहिओ अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ।।१८।।

सम्यक्त्वरूपी गुण से युक्त साधु को उत्तम पात्र कहा है, सम्यग्दृष्टि श्रावक को मध्यम पात्र जानना चाहिये, जिनागम में अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा गया है और जो सम्यग्दर्शनरूपी रत्न से रहित है वह अपात्र है। इस प्रकार पात्र और अपात्र की अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिये।।१७-१८।।

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्य णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ।।१९।।

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे ही भ्रष्ट हैं, सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट मनुष्य का मोक्ष नहीं होता। जो चारित्र से भ्रष्ट हैं वे तो (पुनः चारित्र धारण कर लेने पर) सिद्ध हो जाते हैं परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे सिद्ध नहीं हो सकते।

भावार्थ— जो मनुष्य सम्यग्दृष्टि तो है परन्तु चारित्रमोह का तीव्र उदय आ जाने के कारण चारित्र से भ्रष्ट हो गया है वह पुनः चारित्र को धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भी भ्रष्ट हो गया है उसका मोक्ष प्राप्त करना सरल नहीं है।।१९।।

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो ।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ संजदो ।।२०।।

मैं अकेला हूँ, ममत्व से रहित हूँ, शुद्ध हूँ तथा ज्ञान दर्शनरूप लक्षण से युक्त हूँ इसलिये शुद्ध एकत्वभाव ही उपादेय है— ग्रहण करने के योग्य है। इस प्रकार संयमी साधु को सदा विचार करते रहना चाहिये।।२०।।

अन्यत्वानुप्रेक्षा

मादापिदरसहोदरपुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो ।
जीवस्स ण संबंधो णियकज्जवसेण वट्टंति ।।२१।।

माता, पिता, सगा भाई, पुत्र तथा स्त्री आदि बन्धुजनों— इष्टजनों का समूह जीव से सम्बन्ध रखने वाला नहीं है। ये सब अपने कार्य के वश जीव के साथ रहते हैं।।२१।।

अण्णो अण्णं सोयदि मदो त्ति मम णाहगो त्ति मण्णंतो।
अप्पाणं ण हु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्डं ।।२२।।

यह मेरा स्वामी था, यह मर गया इस प्रकार मानता हुआ अन्य जीव अन्य जीव के प्रति शोक करता है परन्तु संसाररूपी महासागर में डूबते हुए अपने आपके प्रति शोक नहीं करता।।२२।।

अण्णं इमं सरीरादिगं पि होज्ज बाहिरं दव्वं ।
णाणं दंसणमादा एवं चिंत्तेहि अण्णत्तं ।।२३।।

यह जो शरीरादिक बाह्य द्रव्य है वह सब मुझसे अन्य है, ज्ञान दर्शन ही आत्मा है अर्थात् ज्ञान, दर्शन ही मेरे हैं, इस प्रकार अन्यत्व भावना का चिन्तन करो।।२३।।

संसारानुप्रेक्षा

पंचविहे संसारे जाइजरामरणरोगभयपउरे ।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं ।।२४।।

जिन भगवान् के द्वारा प्रणीत मार्ग की प्रतीति को नहीं करता हुआ जीव चिरकाल से जन्म, जरा, मरण, रोग और भय से परिपूर्ण पाँच प्रकार के संसार में परिभ्रमण करता रहता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये पाँच परिवर्तन ही पाँच प्रकार का संसार कहलाते हैं।।२४।।

द्रव्य परिवर्तन का स्वरूप

सव्वे वि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण ।
असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे ।।२५।।

पुद्गल परिवर्तन (द्रव्य परिवर्तन) रूप संसार में इस जीव ने अकेले ही समस्त पुद्गलों को अनन्त बार भोगकर छोड़ दिया है।।२५।।

क्षेत्र परिवर्तन का स्वरूप

सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तं णत्थि जं ण उप्पण्णं ।
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ।।२६।।

समस्त लोकरूपी क्षेत्र में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह क्रम से उत्पन्न न हुआ हो। समस्त अवगाहनाओं के द्वारा इस जीव ने क्षेत्र संसार में अनेक बार परिभ्रमण किया है।

भावार्थ— क्षेत्र परिवर्तन के स्वक्षेत्र परिवर्तन और परक्षेत्र परिवर्तन की अपेक्षा दो भेद हैं। समस्त लोकाकाश में क्रम से उत्पन्न हो लेने में जितना समय लगता है वह स्वक्षेत्र परिवर्तन है और क्रम से जघन्य अवगाहना से लेकर उत्कृष्ट अवगाहना तक धारण करने में जितना समय लगता है उतना परक्षेत्र परिवर्तन है। इस गाथा में दोनों प्रकार के क्षेत्र परिवर्तनों की चर्चा की गयी है।।२६।।

काल परिवर्तन का स्वरूप

अवसप्पिणिउस्सप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु ।
जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालसंसारे ।।२७।।

यह जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल की समस्त समयावलियों में उत्पन्न हुआ है तथा मरा है। इस तरह इसने काल संसार में अनेक बार परिभ्रमण किया है।।२७।।

भव परिवर्तन का स्वरूप

णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवेज्जा ।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो ।।२८।।

मिथ्यात्व के आश्रय से इस जीव ने नरक की जघन्य आयु से लेकर उपरिम ग्रैवेयक तक की भव स्थिति को धारण कर अनेक बार भ्रमण किया है।

भावार्थ— नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति में जघन्य से लेकर उत्कृष्ट आयु तक को क्रम से प्राप्त कर लेने में जितना समय लगता है उतने समय को भव परिवर्तन कहते हैं। नरकगति की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की है। मनुष्य और तिर्यञ्चगति की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य की है तथा देवगति की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की है परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव की उत्पत्ति देवगति में इकतीस सागर की आयु से युक्त उपरिम ग्रैवेयक तक ही होती है इसलिये देवगति में भव स्थिति की अन्तिम सीमा ग्रैवेयक तक ही बतलाई गयी है।।२८।।

भाव परिवर्तन का स्वरूप

सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागपदेसबंधठाणाणि ।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावसंसारे ।।२९।।

इस जीव ने मिथ्यात्व के वश समस्त कर्मप्रकृतियों की सब स्थितियों, सब अनुभागबन्ध स्थानों और सब प्रदेशबन्ध स्थानों को प्राप्त कर बार-बार भाव संसार में परिभ्रमण किया है।

भावार्थ— ज्ञानावरणादि समस्त कर्मप्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध से लेकर उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तक के योग्य समस्त कषायाध्यवसायस्थान, समस्त अनुभागाध्यवसाय स्थान और समस्त योग स्थानों को प्राप्त कर लेना भाव संसार है। ये पाँचों परिवर्तन ही पाँच प्रकार के संसार हैं। इन संसारों में जीव का परिभ्रमण मिथ्यात्व के कारण होता है।।२९।।

पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पापबुद्धीए ।
परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे ।।३०।।

जो जीव पुत्र तथा स्त्री के निमित्त पापबुद्धि से धन कमाता है और दयादान का परित्याग करता है वह संसार में भ्रमण करता है।।३०।।

मम पुत्तं मम भज्जा मम धणधण्णो त्ति तिव्वकंखाए।
चइऊण धम्मबुद्धिं पच्छा परिपडदि दीहसंसारे ।।३१।।

जो जीव, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा धनधान्य है, इस प्रकार की तीव्र आकांक्षा से धर्मबुद्धि को छोड़ता है वह पीछे दीर्घ संसार में पड़ता है।।३१।।

मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो जोण्हभासियं धम्मं ।
कुधम्मकुलिंगकुतित्थं मण्णंतो भमदि संसारे ।।३२।।

मिथ्यात्व के उदय से यह जीव जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित धर्म की निन्दा करता

हुआ तथा कुधर्म, कुलिंङ्ग और कुतीर्थ को मानता हुआ संसार में भ्रमण करता है।।३२।।

हंतूण जीवरासिं महुमंसं सेविऊण सुरयाणं ।
परदव्ववरकलत्तं गहिऊण य भमदि संसारे ।।३३।।

जीवराशि का घात कर, मधु, माँस और मदिरापान का सेवन कर तथा परद्रव्य और परस्त्री को ग्रहण कर यह जीव संसार में भ्रमण करता है।।३३।।

जत्तेण कुणइ पावं विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो।
मोहंधयारसहिओ तेण दु परिपडदि संसारे ।।३४।।

मोहरूपी अन्धकार से सहित जीव विषयों के निमित्त यत्नपूर्वक पाप करता है और उससे संसार में पड़ता है।।३४।।

णिच्चिदरधादुसत्तय तरुदसवियलिंदिएसु छच्चेव ।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा ।।३५।।

नित्य निगोद, इतर निगोद, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक इन छह प्रकार के जीवों में प्रत्येक की सात-सात लाख, प्रत्येक वनस्पतिकायिक की दस लाख, विकलेन्द्रियों की छह लाख, देव, नारकी तथा पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों में प्रत्येक की चार-चार लाख और मनुष्यों की चौदह लाख इस प्रकार सब मिलाकर चौरासी लाख योनियाँ हैं, जिनमें संसारी जीव भ्रमण करता है।।३५।।

संजोगविप्पजोगं लाहालाहं सुहं च दुक्खं च ।
संसारे भूदाणं होदि हु माणं तहावमाणं च ।।३६।।

संसार में जीवों को संयोग-वियोग, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख तथा मान-अपमान प्राप्त होते हैं।।३६।।

कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकंतारे ।
जीवस्स ण संसारो णिच्चयणयकम्मविम्मुक्को ।।३७।।

कर्मों के निमित्त से यह जीव संसाररूपी भयानक वन में भ्रमण करता है किन्तु निश्चयनय से जीव कर्मों से रहित है इसलिये उसका संसार भी नहीं है।

भावार्थ—जीव के संसारी और मुक्त भेद व्यवहारनय से बनते हैं, निश्चयनय से नहीं बनते क्योंकि निश्चयनय से जीव और कर्म दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं।।३७।।

संसारमदिक्कंतो जीवोवादेयमिति विचिंतेज्जो ।
संसारदुहक्कंतो जीवो सो हेयमिति विचिंतेज्जो ।।३८।।

संसार से छूटा हुआ जीव उपादेय है ऐसा विचार करना चाहिये और संसार के

दुःखों से आक्रान्त जीव छोड़ने योग्य है ऐसा चिन्तन करना चाहिये।।३८।।

लोकानुप्रेक्षा

जीवादिपयट्ठाणं समवाओ सो णिरुच्चए लोगो ।
तिविहो हवेइ लोगो अहमज्झिमउड्ढभेएण ।।३९।।

जीव आदि पदार्थों का जो समूह है वह लोक कहा जाता है। अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से लोक तीन प्रकार का होता है।।३९।।

णिरया हवंति हेट्ठा मज्झे दीवंबुरासयो संखा ।
सग्गो तिसट्ठिभेओ एत्तो उड्ढं हवे मोक्खो ।।४०।।

नीचे नरक हैं, मध्य में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं, ऊपर त्रेसठ भेदों से युक्त स्वर्ग हैं और इनके ऊपर मोक्ष है।।४०।।

स्वर्ग के त्रेसठ भेदों का वर्णन

इगतीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्क छक्क चदुकप्पे ।
तित्तिय एक्केक्केंदियणामा उडुआदि तेसट्ठी ।।४१।।

सौधर्म और ऐशान कल्प में इकतीस, सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में सात, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर कल्प में चार, लान्तव और कापिष्ठ कल्प में दो, शुक्र और महाशुक्र कल्प में एक, शतार और सहस्रार कल्प में एक तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन अन्त के चार कल्पों में छह इस तरह सोलह कल्पों में कुल ५२ पटल हैं। इनके आगे अधोग्रैवेयक, मध्यमग्रैवेयक और उपरिमग्रैवेयकों के त्रिक में प्रत्येक के तीन-तीन अर्थात् नौ ग्रैवेयकों के नौ, अनुदिशों का एक और अनुत्तरविमानों का एक पटल है इस तरह सब मिलाकर ऋतु आदि त्रेसठ पटल हैं।।४१।।

असुहेण णिरयतिरियं सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं ।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ।।४२।।

अशुभोपयोग से नरक और तिर्यञ्चगति प्राप्त होती है। शुभोपयोग से देव और मनुष्यगति का सुख मिलता है और शुद्धोपयोग से जीव मुक्ति को प्राप्त होता है—इस प्रकार लोक का विचार करना चाहिये।।४२।।

अशुचित्वानुप्रेक्षा

अट्ठीहिं पडिबद्धं मंसविलित्तं तएण ओच्छण्णं ।
किमिसंकुलेहिं भरियमचोक्खं देहं सयाकालं ।।४३।।

यह शरीर हड्डियों से बना है, माँस से लिपटा है, चर्म से आच्छादित है, कीट-समूहों से भरा है और सदा मलिन रहता है।।४३।।

दुग्गंधं बीभच्छं कलिमलभरिदं अचेयणं मुत्तं ।
सडणप्पडणसहावं देहं इदि चिंतए णिच्चं ।।४४।।

यह शरीर दुर्गन्ध से युक्त है, घृणित है, गन्दे मल से भरा हुआ है, अचेतन है, मूर्तिक है तथा सड़ना और गलना स्वभाव से सहित है, ऐसा सदा चिन्तन करना चाहिये।।४४।।

रसरुहिरमंसमेदट्ठीमज्जसंकुलं पुत्तपूयकिमिबहुलं ।
दुग्गंधमसुचि चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणं ।।४५।।

यह शरीर रस, रुधिर, माँस, चर्बी, हड्डी तथा मज्जा से युक्त है, मूत्र, पीब और कीड़ों से भरा हुआ है, दुर्गन्धित है, अपवित्र है, चर्ममय है, अनित्य है, अचेतन है और पतनशील है—नश्वर है।।४५।।

देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो ।
चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्चं भावणं कुज्जा ।।४६।।

आत्मा इस शरीर से भिन्न है, कर्मरहित है, अनन्त सुखों का भण्डार है तथा श्रेष्ठ है, इस प्रकार निरन्तर भावना करनी चाहिये।।४६।।

आस्रवानुप्रेक्षा

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति ।
पण पण चउतियभेदा सम्मं परिकित्तिदा समए ।।४७।।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये आस्रव हैं। उक्त मिथ्यात्व आदि आस्रव क्रम से पाँच, पाँच, चार और तीन भेदों से युक्त हैं, आगम में इनका अच्छी तरह वर्णन किया गया है।।४७।।

मिथ्यात्व तथा अविरति के पाँच भेद

एयंतविणयविवरियसंसयमण्णाणमिदि हवे पंच ।
अविरमणं हिंसादी पंचविहो सो हवइ णियमेण ।।४८।।

एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान यह पाँच प्रकार का मिथ्यात्व है तथा हिंसा आदि के भेद से पाँच प्रकार की अविरति नियम से होती है।।४८।।

चार कषाय और तीन योग

कोहो माणो माया लोहो वि य चउव्विहं कसायं खु ।
मण वचिकाएण पुणो जोगो तिवियप्पमिदि जाणे ।।४९।।

क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार प्रकार की कषाय है तथा मन, वचन और काय के भेद से योग के तीन भेद हैं, यह जानना चाहिये।।४९।।

असुहेदरभेदेण दु एक्केकं वण्णिदं हवे दुविहं ।
आहारादी सण्णा असुहमणं इदि विजाणेहि ।।५०।।

मन, वचन, काय इन तीनों योगों में से प्रत्येक योग अशुभ और शुभ के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। आहार आदि संज्ञाओं का होना अशुभ मन है ऐसा जानो।।५०।।

किण्हादि तिण्णि लेस्सा करणजसोक्खेसु गिद्धिपरिणामो ।
ईसा विसादभावो असुहमणं त्ति य जिणा वेंति ।।५१।।

कृष्णादि तीन लेश्याएँ, इन्द्रियजन्य सुखों में तीव्र लालसा, ईर्ष्या तथा विषादभाव अशुभ मन है, ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं।।५१।।

रागो दोसो मोहो हास्सादिणोकसायपरिणामो ।
थूलो वा सुहुमो वा असुहमणो त्ति य जिणा वेंति ।।५२।।

राग, द्वेष, मोह तथा हास्यादिक नोकषायरूप परिणाम चाहे स्थूल हों चाहे सूक्ष्म, अशुभ मन हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं।।५२।।

भत्तित्थिरायचोरकहाओ वयणं वियाण असुहमिदि ।
बंधणछेदणमारणकिरिया सा असुहकायेत्ति ।।५३।।

भक्तकथा, स्त्रीकथा, राजकथा तथा चोरकथा अशुभ वचन है, ऐसा जानो तथा बन्धन, छेदन और मारण रूप जो क्रिया है, वह अशुभ काय है।।५३।।

मोत्तूण असुहभावं पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं ।
वद समिदिसीलसंजमपरिणामं सुहमणं जाणे ।।५४।।

पहले कहे हुए अशुभ भाव तथा शुभ द्रव्य को सम्पूर्ण रूप से छोड़कर व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणामों का होना शुभ मन है, ऐसा जानो।।५४।।

संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं ।
जिणदेवादिसु पूजा सुहकायं त्ति य हवे चेट्ठा ।।५५।।

जो वचन संसार का छेद करने में कारण है वह शुभ वचन है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है तथा जिनेन्द्रदेव आदि की पूजा रूप जो चेष्टा-शरीर की प्रवृत्ति है वह शुभकाय है।।५५।।

जम्मसमुद्दे बहुदोस बीचिये दुक्खजलचराकिण्णे ।
जीवस्स परिब्भमणं कम्मासवकारणं होदि ।।५५।।

अनेक दोषरूपी तरङ्गों से युक्त तथा दुःखरूपी जलचर जीवों से व्याप्त संसाररूपी

समुद्र में जीव का जो परिभ्रमण होता है वह कर्मास्रव के कारण होता है अर्थात् कर्मास्रव के कारण ही जीव संसार समुद्र में परिभ्रमण करता है।।५६।।

कम्मासवेण जीवो बूडदि संसारसागरे घोरे ।
जं णाणवसं किरिया मोक्खणिमित्तं परंपरया ।।५७।।

कर्मास्रव के कारण जीव संसाररूपी भयंकर समुद्र में डूब रहा है। जो क्रिया ज्ञानवश होती है वह परम्परा से मोक्ष का कारण होती है।।५७।।

आसवहेदू जीवो जम्मसमुद्दे णिमज्जदे खिप्पं ।
आसवकिरिया तम्हा मोक्खणिमित्तं ण चिंतेज्जो ।।५८।।

आस्रव के कारण जीव संसाररूपी समुद्र में शीघ्र डूब जाता है इसलिये आस्रवरूप क्रिया मोक्ष का निमित्त नहीं है, ऐसा विचार करना चाहिये।

भावार्थ—अशुभास्रवरूप क्रिया तो मोक्ष का कारण है ही नहीं परन्तु शुभास्रवरूप क्रिया भी मोक्ष का कारण नहीं है, ऐसा चिन्तन करना चाहिये।।५८।।

पारंपज्जाएण दु आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाणं ।
संसारगमणकारणमिदि णिंदं आसवो जाण ।।५९।।

परम्परा से भी आस्रवरूप क्रिया के द्वारा निर्वाण नहीं होता। आस्रव संसारगमन का ही कारण है इसलिये निन्दनीय है, ऐसा जानो।।५९।।

पुव्वुत्तासवभेदा णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स ।
उहयासवणिम्मुक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं ।।६०।।

पहले जो आस्रव के भेद कहे गये हैं वे निश्चयनय से जीव के नहीं हैं इसलिये आत्मा को दोनों प्रकार के आस्रवों से रहित ही निरन्तर विचारना चाहिये।।६०।।

संवरानुप्रेक्षा

चलमलिनमगाढं च वज्जिय, सम्मत्तदिढकवाडेण ।
मिच्छत्तासवदारणिरोहो होदित्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं ।।६१।।

चल, मलिन और अगाढ दोष को छोड़कर सम्यक्त्वरूपी दृढ़ कपाटों के द्वारा मिथ्यात्वरूपी आस्रवद्वार का निरोध हो जाता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भावार्थ—चल, मलिन और अगाढ ये सम्यग्दर्शन के दोष हैं। इनका अभाव हो जाने पर सम्यग्दर्शन में दृढ़ता आती है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार आस्रव हैं। यहाँ मिथ्यात्व के निमित्त से होने वाले आस्रव को द्वार की तथा सम्यग्दर्शन को सुदृढ़ कपाट की उपमा दी गयी है और उस उपमा के द्वारा कहा गया है कि सम्यग्दर्शनरूपी

सुदृढ़ कपाटों से मिथ्यात्व के निमित्त से होने वाले आस्रवरूप द्वार का निरोध हो जाता है। आस्रव का रुक जाना ही संवर कहलाता है।।६१।।

पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं हवे णियमा ।
कोहादि आसवाणं दाराणि कसायरहियपल्लगेहि ।।६२।।

पञ्च महाव्रतों से युक्त मन से अविरतिरूप आस्रव का निरोध नियम से हो जाता है और क्रोधादि कषायरूप आस्रवों के द्वार कषाय के अभावरूप फाटकों से रुक जाते हैं—बन्द हो जाते हैं।।६२।।

सुहजोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स ।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ।।६३।।

शुभयोग की प्रवृत्ति, अशुभयोग का संवर करती है और शुद्धोपयोग के द्वारा शुभयोग का निरोध हो जाता है।।६३।।

सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स ।
तम्हा संवरहेदू झाणो त्ति विचिंतए णिच्चं ।।६४।।

शुद्धोपयोग से जीव के धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान होते हैं इसलिये ध्यान संवर का कारण है ऐसा निरन्तर विचार करना चाहिये।।६४।।

जीवस्स ण संवरणं परमट्ठणएण सुद्धभावादो ।
संवरभावविमुक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं ।।६५।।

परमार्थनय—निश्चयनय से जीव के संवर नहीं है क्योंकि वह शुद्ध भाव से सहित है अतएव आत्मा को सदा संवरभाव से रहित विचारना चाहिये।।६५।।

निर्जरानुप्रेक्षा

बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं इदि जिणेहि पण्णत्तं ।
जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाण ।।६६।।

बँधे हुए कर्मप्रदेशों का गलना निर्जरा है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। जिस कारण से संवर होता है उसी कारण से निर्जरा होती है।।६६।।

सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा ।
चदुगदियाणं पढमा वयजुत्ताणं हवे विदिया ।।६७।।

फिर वह निर्जरा दो प्रकार की जाननी चाहिये—एक अपना उदयकाल आने पर कर्मों का स्वयं पककर झड़ जाना और दूसरी तप के द्वारा की जाने वाली। इनमें पहली निर्जरा तो चारों गतियों के जीवों के होती है और दूसरी निर्जरा व्रती जीवों के होती है।।६७।।

धर्मानुप्रेक्षा

एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं ।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ।।६८।।

उत्तम सुख से सम्पन्न जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि गृहस्थों तथा मुनियों का वह धर्म क्रम से ग्यारह और दस भेदों से युक्त है तथा सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है।

भावार्थ— आत्मा की निर्मल परिणति को धर्म कहते हैं। वह धर्म गृहस्थ और मुनियों के भेद से दो प्रकार का होता है। गृहस्थ धर्म के दर्शन प्रतिमा आदि ग्यारह भेद हैं और मुनिधर्म के उत्तम क्षमा आदि दस भेद हैं। इन दोनों प्रकार के धर्मों के पहले सम्यग्दर्शन का होना आवश्यक है उसके बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।।६८।।

गृहस्थ के ग्यारह धर्म

दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य ।
बम्हारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ।।६९।।

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त त्याग, रात्रिभक्तव्रत, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये ग्यारह देशविरत अर्थात् गृहस्थ धर्म के भेद हैं।।६९।

मुनिधर्म के दस भेद

उत्तमखममद्दवज्जवसच्चसउच्चं च संजमं चेव ।
तवचागमकिंचण्हं बम्हा इदि दसविहं होदि ।।७०।।

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये मुनिधर्म के दस भेद हैं।।७०।।

उत्तम क्षमा का लक्षण

कोहुप्पत्तिस्सा पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं ।
ण कुणदि किंचि वि कोहो तस्स खमा होदि धम्मो त्ति ।।७१।।

यदि क्रोध की उत्पत्ति का साक्षात् बहिरङ्ग कारण हो फिर भी जो कुछ भी क्रोध नहीं करता उसके क्षमा धर्म होता है।।७१।।

मार्दव धर्म का लक्षण

कुलरूवजादिबुद्धिसु तपसुदसीलेसु गारवं किंचि ।
जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स ।।७२।।

जो मुनि कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत तथा शील के विषय में कुछ भी गर्व नहीं करता, उसके मार्दव धर्म होता है।।७२।।

आर्जव धर्म का लक्षण

मोत्तू ण कुडिलभावं णिम्मलहिदएण चरदि जो समणो ।
अज्जवधम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण ।।७३।।

जो मुनि कुटिल भाव को छोड़कर निर्मल हृदय से आचरण करता है उसके नियम से तीसरा आर्जव धर्म होता है।।७३।।

सत्य धर्म का लक्षण

परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं ।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं ।।७४।।

दूसरों को संताप करने वाले वचन को छोड़कर जो भिक्षु स्वपरहितकारी वचन बोलता है उसके चौथा सत्यधर्म होता है।।७४।।

शौच धर्म का लक्षण

कंखाभावणिवित्तिं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो ।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं ।।७५।।

जो उत्कृष्ट मुनि काङ्क्षाभाव से निवृत्ति कर वैराग्यभाव से युक्त रहता है, उसके शौचधर्म होता है।।७५।।

संयम धर्म का लक्षण

वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण ।
परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा ।।७६।।

मन, वचन, काय की प्रवृत्तिरूप दण्ड को त्यागकर तथा इन्द्रियों को जीतकर जो व्रत और समितियों के पालनरूप प्रवृत्ति करता है उसके नियम से संयम धर्म होता है।।७६।।

उत्तम तप का लक्षण

विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए ।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण ।।७७।।

विषय और कषाय के विनिग्रहरूप भाव को करके जो ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा आत्मा की भावना करता है उसके नियम से तप होता है।।७७।।

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ।।७८।।

जो समस्त द्रव्यों के विषय में मोह का त्याग कर तीन प्रकार के निर्वेद की भावना करता है उसके त्याग धर्म होता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।।७८।।

आकिञ्चन्य धर्म का लक्षण

होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं ।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्हं ।।७९।।

जो मुनि निःसङ्ग—निष्परिग्रह होकर सुख और दुःख देने वाले अपने भावों का निग्रह करता हुआ निर्द्वन्द्व रहता है अर्थात् किसी इष्ट-अनिष्ट के विकल्प में नहीं पड़ता है उसके आकिञ्चन्य धर्म होता है।।७९।।

ब्रह्मचर्य धर्म का लक्षण

सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं ।
सो बम्हचेरभावं सक्कदि खलु दुद्धरं धरिदुं ।।८०।।

जो स्त्रियों के सब अंगों को देखता हुआ उनमें खोटे भाव को छोड़ता है अर्थात् किसी प्रकार के विकार भाव को प्राप्त नहीं होता है वह निश्चय से अत्यन्त कठिन ब्रह्मचर्य धर्म को धारण करने के लिये समर्थ होता है।।८०।।

सावयधम्मं चत्ता जदिधम्मे जो हु वट्टए जीवो ।
सो णय वज्जदि मोक्खं धम्मं इदि चिंतए णिच्चं ।।८१।।

जो जीव श्रावक धर्म को छोड़कर मुनि धर्म धारण करता है वह मोक्ष को नहीं छोड़ता है अर्थात् उसे मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होती है इस प्रकार निरन्तर धर्म का चिन्तन करना चाहिये।

भावार्थ—गृहस्थ धर्म परम्परा से मोक्ष का कारण है और मुनिधर्म साक्षात् मोक्ष का कारण है इसलिये यहाँ गृहस्थ के धर्म को गौण कर मुनिधर्म की प्रभुता बतलाने के लिये कहा गया है कि जो गृहस्थ धर्म को छोड़कर मुनिधर्म में प्रवृत्त होता है वह मोक्ष को नहीं छोड़ता अर्थात् उसे मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है।।८१।।

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो ।
मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पं चिंतए णिच्चं ।।८२।।

निश्चयनय से जीव गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म से भिन्न है इसलिये दोनों धर्मों में

मध्यस्थ भावना रखते हुए निरन्तर शुद्ध आत्मा का चिन्तन करना चाहिये।

भावार्थ—मोह और लोभ से रहित आत्मा की निर्मल परिणति को धर्म कहते हैं। गृहस्थ धर्म तथा मुनि धर्म उस निर्मल परिणति के प्रकट होने में सहायक होने से धर्म कहे जाते हैं, परमार्थ से धर्म नहीं हैं इसलिये दोनों में मध्यस्थ भाव रखते हुए शुद्ध आत्मा के चिन्तन की ओर आचार्य ने यहाँ प्रेरणा दी है।।८२।।

बोधिदुर्लभ भावना

उपज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स ।
चिंता हवेइ बोहो अच्चंतं दुल्लहं होदि ।।८३।।

जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है उस उपाय की चिन्ता बोधि है, यह बोधि अत्यन्त दुर्लभ है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को बोधि कहते हैं, इसकी दुर्लभता का विचार करना सो बोधिदुर्लभ भावना है।।८३।।

कम्मुदयजपज्जायां हेयं खाओवसमियणाणं तु ।
सगदव्वमुवादेयं णिच्छयत्ति होदि सण्णाणं ।।८४।।

कर्मोदय से होने वाली पर्याय होने के कारण क्षायोपशमिक ज्ञान हेय है और आत्मद्रव्य उपादेय है ऐसा निश्चय होना सम्यग्ज्ञान है।।८४।।

मूलुत्तरपयदीओ मिच्छत्तादी असंखलोगपरिमाणा ।
परदव्वं सगदव्वं अप्पा इदि णिच्छयणएण ।।८५।।

मिथ्यात्व को आदि लेकर असंख्यात लोक प्रमाण जो कर्मों की मूल तथा उत्तर प्रकृतियाँ हैं वे परद्रव्य हैं और आत्मा स्वद्रव्य है ऐसा निश्चयनय से कहा जाता है।

भावार्थ—ज्ञायक स्वभाव से युक्त आत्मा स्वद्रव्य है और उसके साथ लगे हुए जो नोकर्म, द्रव्यकर्म तथा भावकर्म हैं वे सब परद्रव्य हैं ऐसा निश्चयनय से जानना चाहिये।।८५।।

एवं जायदि णाणं हेयमुवादेय णिच्छये णत्थि ।
चिंतिज्जइ मुणि बोहिं संसारविरमणट्ठे य ।।८६।।

इस प्रकार स्वद्रव्य और परद्रव्य का चिन्तन करने से हेय और उपादेय का ज्ञान होता है अर्थात् परद्रव्य हेय है और स्वद्रव्य उपादेय है। निश्चयनय में हेय और उपादेय का विकल्प नहीं है। मुनि को संसार का विराम करने के लिये बोधि का विचार करना चाहिये।।८६।।

वारस अणुवेक्खाओ पच्चक्खाणं तहेव पडिक्कमणं ।
आलोयणं समाहिं तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं ।।८७।।

ये बारह अनुप्रेक्षाएं ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि हैं इसलिये इन अनुप्रेक्षाओं की निरन्तर भावना करनी चाहिये।।८७।।

रत्तिदिवं पडिकमणं पच्चक्खाणं समाहिं सामइयं ।
आलोयणं पकुव्वदि जदि विज्जदि अप्पणो सत्ती ।।८८।।

यदि अपनी शक्ति है तो रात दिन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक और आलोचना करनी चाहिये।।८८।।

मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण वारअणुवेक्खं ।
परिभाविऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं ।।८९।।

जो पुरुष अनादिकाल से बारह अनुप्रेक्षाओं का अच्छी तरह चिन्तन कर मोक्ष गये हैं मैं उन्हें बारम्बार प्रणाम करता हूँ।।८९।।

किं पलविएण बहुणा, जे सिद्धा णरवरा गये काले ।
सिज्झिहदि जेवि भविया तं जाणह तस्स माहप्पं ।।९०।।

बहुत कहने से क्या लाभ है ? भूतकाल में जो श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और जो भविष्यत् काल में सिद्ध होवेंगे उसे अनुप्रेक्षाओं का ही माहात्म्य जानो।।९०।।

इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे ।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ।।९१।।

इस प्रकार कुन्दकुन्द मुनिराज ने निश्चय और व्यवहार का आलम्बन लेकर जो कहा है शुद्ध हृदय होकर जो उसकी भावना करता है वह परम निर्वाण को प्राप्त होता है।।९१।।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्यविरचित वारसणुपेक्खा—
बारह अनुप्रेक्षा ग्रन्थ में बारह अनुप्रेक्षाओं का
वर्णन समाप्त हुआ।

श्रीमत्कुंदकुंददेवविरचित मूलाचार ग्रन्थ से
(श्रीवसुनन्दिसिद्धान्तचक्रवर्तिविरचितटीकासहितः)

द्वादशानुप्रेक्षा

सिद्धे णमंसिदूण य झाणुत्तमखवियदीहसंसारे ।
दह दह दो दो य जिणे दह दो अणुपेहणा वुच्छं ।।६९३।।

सिद्धान् लब्धात्मस्वरूपान्। नमंसित्वा प्रणम्य। किंविशिष्टान् ? ध्यानेनोत्तमेन क्षपितो दीर्घसंसारो यैस्ते ध्यानोत्तमक्षपितदीर्घसंसारास्तान् शुक्लध्यानविध्वस्तमिथ्यात्वासंयम-कषाययोगान्। दश दश वीप्सावचनं चैतत् विंशतितीर्थंकरान्, द्वौ द्वौ चतुरश्चतुर्विंशतितीर्थंकरांश्च जिनान् प्रणम्य। दश द्वे च द्वादशानुप्रेक्षा वक्ष्य इति सम्बन्धः। [४]ध्यानमध्ये या द्वादशानुप्रेक्षाः सूचितास्तासां प्रपंचोऽयमिति।।६९३।।

प्रतिज्ञावाक्येन सूचितानुप्रेक्षानामान्याह—

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोधिं च चिंतेज्जो।।६९४।।

गाथार्थ— उत्तम ध्यान द्वारा दीर्घ संसार का नाश करने वाले सिद्धों को और चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार करके बारह अनुप्रेक्षाओं को कहूँगा।।६९३।।

आचारवृत्ति— जिन्होंने शुक्लध्यान के द्वारा मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगरूप दीर्घ संसार का विध्वंस कर दिया है और जो आत्मस्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे सिद्धों को तथा दश-दश, दो-दो अर्थात् वर्तमान विंशति तथा चतुर्विंशति तीर्थंकरों को भी नमस्कार करके, दश और दो अर्थात् द्वादश अनुप्रेक्षाओं को कहूँगा, क्योंकि ध्यान के मध्य जो द्वादश अनुप्रेक्षाओं को सूचित किया था उन्हीं का यह विस्तार है ऐसा समझना।

प्रतिज्ञावाक्य से सूचित अनुप्रेक्षाओं के नाम कहते हैं—

गाथार्थ— अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुभत्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इनका चिन्तवन करें।।६९४।।

---

१. फलटन से प्रकाशित मूलाचार को श्री कुंदकुंददकृत ही माना है उस प्रति में यह नवम अधिकार है और 'अनगार भावना' अष्टम अधिकार है। २. द नु प्रेक्षानामान्याह। ३. अनन्तपदलाभाय यत्पदद्वन्द्वचिन्तनम्। जगदर्हः स वः पायाद्देवस्त्यागदिगम्बरः।। द्वादशानुप्रेक्षाधिकारमष्टमं प्रपञ्चयंस्तावदादौ नमस्कारपूर्वकं प्रतिज्ञावाक्यमाह—इति द प्रतौ अधिकः पाठः। ४. ध्यानमध्ये या द्वादशानुप्रेक्षाः सूचितास्तासां प्रपंचोऽयमिति प्रतिज्ञावाक्येन सूचितास्तासां प्रपंचोऽयमिति, प्रेस-पुस्तके पाठः।

अध्रुवमनित्यमशाश्वतं। अशरणमत्राणं। एकत्वमसहायत्वं द्वितीयस्याभावो न मे द्वितीयः। अन्यत्वं पृथक्त्वं शरीरादप्यन्योऽहमिति भावनं। संसारश्चतुर्गतिपरिभ्रमणं प्रदेशानामुद्वर्त्तनं परिवर्तनं च। लोकं वेत्रासनझल्लरीमृदंगसंस्थानं। अशुभत्वमशुचित्वं सर्वदुःखास्वरूपं। आस्रवं कर्मागमद्वारं मिथ्यात्वादिकं। संवरं कर्मागमद्वारनिरोधनं सम्यक्त्वादिकं। निर्जरा कर्मनिर्गमनं। धर्ममुत्तमक्षमादिलक्षणं। बोधिं सम्यक्त्वलाभं चान्तकाले सन्यासेन प्राणत्यागं चिन्तयेत्। एवंप्रकारा द्वादशानुप्रेक्षा ध्यायेदिति।।६९४।।

तासु मध्ये तावदनित्यताभेदमाह —

ठाणाणि आसणाणि य देवासुरइड्ढिमणुयसोक्खाइं ।
मादुपिदुसयणसंवासदा य पीदी वि य अणिच्चा ।।६९५।।

स्थानानि ग्रामनगरपत्तनदेशपर्वतनदीमटंवादीनि, अथवा देवेन्द्रचक्रधरबलदेवस्थानानि अथवेक्ष्वाकुहरिवंशादिस्थानानि, तिष्ठन्ति सुखेन जीवा येषु तानि स्थानानि। आसन्ते सुखेन विशन्ति येषु तान्यासनानि राज्याङ्गानि सिंहासनादीनि, अथवा अशनानि नानाप्रकारभोजनानि [१]उत्तरत्राशनशब्देन चाशनादीनां ग्रहणात्, देवाश्चासुराश्च मनुष्याश्च देवासुरमनुष्यास्तेषां

आचारवृत्ति — अध्रुव — अनित्य, अशाश्वत। अशरण — अरक्षा। एकत्व — असहायपना अर्थात् द्वितीय का अभाव होना, मेरा कोई दूसरा नहीं है, मैं अकेला हूँ, ऐसा समझना। अन्यत्व — पृथक्पना अर्थात् शरीर से भी मैं भिन्न हूँ ऐसी भावना। संसार — चतुर्गति का परिभ्रमण; आत्मा के प्रदेशों का उद्वर्तन — परिवर्तन होना अर्थात् नाना शरीरों में प्रदेशों का संकुचित, विस्तृत होना। लोक — वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के आकार वाला लोक है। अशुभत्व — अशुचिपना, सर्वदुःखस्वरूपता। आस्रव — कर्मों के आने के द्वार, मिथ्यात्व आदि। संवर — कर्मों के आने के द्वार के निरोध करने वाले सम्यक्त्व आदि। निर्जरा — कर्मों का निर्जीर्ण होना। धर्म — उत्तमक्षमादिरूप। बोधि — सम्यक्त्व का लाभ होना और अन्तकाल में सन्यासपूर्वक प्राण त्याग करना। इस प्रकार से इन द्वादश अनुप्रेक्षाओं का ध्यान करें।

उनमें से पहले अनित्य अनुप्रेक्षा को कहते हैं —

गाथार्थ — स्थान, आसन, देव, असुर तथा मनुष्यों के वैभव, सौख्य, माता-पिता-स्वजन का संवास तथा उनकी प्रीति ये सब अनित्य हैं।।६९५।।

आचारवृत्ति — ग्राम, नगर, पत्तन, देश, पर्वत, नदी और मटंब आदि स्थान कहलाते हैं; अथवा देवेन्द्र, चक्रवर्ती और बलदेव के पद स्थान संज्ञक हैं या इक्ष्वाकुवंश आदि स्थान हैं अर्थात् जिनमें जीव सुख से रहते हैं उन्हें स्थान कहते हैं। जिनमें सुख से

१. उत्तरत्रासन शब्देन वेत्रासनादीनां ग्रहणात्। क०द०

ऋद्धिर्विभूतिर्हस्त्यश्वरथपदातिद्रव्यसुवर्णादिकायाः पूर्वावस्थाया अतिरेकः, सौख्यानि शुभद्रव्येन्द्रियजनितानंदरूपाणि। माता जननी, पिता जनकः, स्वजना बान्धवा संवासतास्तैः सहैकत्रावस्थानं। प्रीतिरपि तैः सह स्नेहोऽपि। अनित्या इति संबंधः। एतानि सर्वाणि स्थानादीन्यनित्यानि नात्र शाश्वतरूपा बुद्धिः कर्त्तव्येति।।६९५।।

तथा —

सामग्गिंगिदियरूवं मदिजोवणजीवियं बलं तेजं ।
गिहसयणासणभंडादिया अणिच्चेति चिंतेज्जो ।।६९६।।

सामग्री राज्यगृहाद्युपकरणं हयहस्तिरथपदातिखड्गकुंतलपरशुबीजकोशादीनि, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, रूपं गौरवर्णादिरमणीयता, मतिर्बुद्धिः पूर्वापरविवेचनं, यौवनं द्वादशवर्षेभ्य उर्ध्वं वयः परिणामः, जीवितमायुः, बलं सामर्थ्यं, तेजः शरीरकान्तिः प्रतापो वा, पुरुषैरानीतानर्थान् गृह्णन्तीति गृहाः स्त्रियस्तत्सहचरितप्रासादादयश्च, शयनानि तूलिकापर्यंकादीनि सुखकारणानि,

प्रवेश करते हैं वे आसन हैं, वे राज्य के अंगभूत सिंहासन आदि हैं। अथवा अशन — नाना प्रकार के भोजन आदि ऐसा अर्थ यहाँ लेना चूँकि आगे गाथा में 'आसण' शब्द से 'आसन' अर्थ लिया है। देवों के, असुरों के और मनुष्यों के हाथी, घोड़ा, रथ, पदाति, द्रव्य और सुवर्ण आदि विभूति का पूर्व अवस्था से अधिक हो जाना ऋद्धि है। शुभ द्रव्यों के द्वारा इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ जो आनन्द है वह सौख्य है। माता-पिता व स्वजन — बन्धुवर्ग के साथ में एकत्र निवास होना संवास है तथा इनके स्नेह का नाम प्रीति है। इस तरह स्थान, आसन, नाना वैभव, सुख, स्वजनों का संवास और स्नेह, ये सब अनित्य — क्षणिक हैं, शाश्वत् रूप नहीं हैं ऐसी बुद्धि करना।

उसी प्रकार से और भी कहते हैं —

गाथार्थ — सामग्री, इन्द्रियाँ, रूप, बुद्धि, यौवन, जीवन, बल, तेज, घर, शयन, आसन और वर्तन आदि सब अनित्य हैं, ऐसा चिन्तवन करें।।६९६।।

आचारवृत्ति — राज्य के या घर के उपकरण — घोड़ा, हाथी, रथ, पदाति, खड्ग, भाला, कुल्हाड़ी, धान्य और कोश ये सामग्री कहलाते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियाँ हैं। गौरवर्ण आदि की रमणीयता रूप है। पूर्वापर विवेक रूप बुद्धि का नाम मति है। बारह वर्ष से ऊपर की उम्र का परिणाम यौवन है। आयु का होना जीवन है। सामर्थ्य को बल कहते हैं। शरीर की कान्ति अथवा प्रताप का नाम तेज है। पुरुषों द्वारा लाये हुए अर्थ को 'गृह्णन्ति इति गृहाः' जो ग्रहण करते हैं वे गृह हैं इस लक्षण से स्त्रियाँ भी गृह हैं तथा उनसे सहचरित महल आदि भी गृह हैं। गद्दे, पलंग आदि सुख के कारणभूत शयन हैं। सुख के हेतुक वेत्रासन, पीठ आदि आसन हैं अथवा शरीर आदि या पुत्र, मित्र, दासी, दास आदि 'आसन'

आसनानि वेत्रासनपीठिकादीनि सुखहेतूनि शरीरादीनि वा पुत्रमित्रदासीदासादीनि च, भांडादीनि च शुंठिमरिचहिंगुवस्त्रकर्पासरूप्यताम्रादीनि सर्वाण्यनित्यानि अध्रुवाणि इत्येवं चिन्तयेत् ध्यायेदिति।।६९६।।

अशरणस्वरूपमाह —

हयगयरहणरबलवाहणाणि मंतोसधाणि विज्जाओ।
मच्चुभयस्स ण सरणं णिगडी णीदी य णीया य ।।६९७।।

अश्वगजरथनरबलवाहनानि मंत्रौषधानि च विद्याश्च प्रज्ञप्त्यादयो मृत्युभयाद्युपस्थितान्न शरणं न त्राणं न रक्षा, निकृतिर्वंचना, नीतिश्चाणक्यविद्या "स्वपक्षपरपक्षवृद्धिहानिप्रितिपादनोपायो नीतिः"। सा च सामोपप्रदानभेददंडरूपा। तत्र प्रियहितवचनमंगं स्वाजन्यं च साम, ननाद्रव्य-प्रदानमुपप्रदानं, त्रासनभर्त्सनादिर्भेदः, ताडनं छेदनं दंडः, निजा बांधवा भ्रात्रादयश्चैवमादीनि मृत्युभये सत्युपस्थिते शरणं न भवंतीति चिन्तनीयमिति।।६९७।।

शब्द से विवक्षित हैं। सोंठ, मिर्च, हींग, वस्त्र, कपास, चाँदी, ताँबा आदि सभी वस्तुएँ भाँड शब्द से कही जाती हैं। ये उपर्युक्त राज्यादि के उपकरण, इन्द्रियाँ, सुन्दररूप, विवेक, यौवन, जीवन, शक्ति, तेज, घर या स्त्रियाँ, शयन, आसन और भाँड आदि सभी क्षणभंगुर हैं — इस प्रकार से ध्यान करें। यह अनित्य भावना है।

अशरण का स्वरूप कहते हैं —

गाथार्थ — घोड़ा, हाथी, रथ, मनुष्य, बल, वाहन, मन्त्र, औषधि, विद्या, माया, नीति और बन्धुवर्ग ये मृत्यु के भय से रक्षक नहीं हैं।।६९७।।

आचारवृत्ति — मृत्यु के भय आदि के उपस्थित होने पर घोड़ा, हाथी, रथ, मनुष्य, सेना, वाहन, मन्त्र, औषधि तथा प्रज्ञप्ति आदि नाना प्रकार की विद्याएँ शरण नहीं हैं अर्थात् ये कोई भी मृत्यु से बचा नहीं सकते हैं। निकृति — वंचना अर्थात् ठगना, नीति — चाणक्यविद्या अथवा 'स्वपक्ष की वृद्धि और परपक्ष की हानि के प्रतिपादन का उपाय नीति है।' यह नीति साम, उपप्रदान, भेद और दण्ड के भेद से चार प्रकार की है। जिसमें प्रिय हित वचन साधन है और आत्मीयता का प्रयोग होता है वह सामनीति है।

नाना प्रकार के द्रव्यों का प्रदान करना उपप्रदान नीति है। त्रास देना, भर्त्सना आदि करना भेदनीति है तथा ताड़न, छेदन करना दण्डनीति है। भाई-बन्धु आदि निज कहलाते हैं, इत्यादि सभी नीतियाँ व बन्धुवर्ग आदि कोई भी मृत्यु भय के आ जाने पर शरण नहीं हैं ऐसा चिन्तवन करना चाहिये।

तथा —

जन्मजरामरणसमाहिदह्मि सरणं ण विज्जदे लोए ।
जरमरणमहारिउवारणं तु जिणसासणं मुच्चा ।।६९८।।

जन्मोत्पत्तिः, जरा वृद्धत्वं, मरणं मृत्युः, एतैः समाहिते संयुक्ते सुष्ठु [२]संकलिते शरणं रक्षा न विद्यते लोकेऽस्मिञ्जगति, जरामरणमहारिपुवारणं, जिनशासनं मुक्त्वा [३]ऽन्यच्छरणं न विद्यते लोके इति संबंधः।।६९८।।

तथा —

मरणभयह्मि उवगदे देवा वि सइंदया ण तारंति ।
धम्मो त्ताणं सरणं गदित्ति चिंतेहि सरणत्तं ।।६९९।।

मरणभय उपगत उपस्थिते देवा अपि सेन्द्रा देवेन्द्रसहिताः सुरासुराः न तारयन्ति न त्रायन्ते तस्माद्धर्मो जिनवराख्यातस्त्राणं रक्षणं शरणमाश्रयो गतिश्चेति चिंतय भावय शरणत्वं, यस्मान्न कश्चिदन्य आश्रयः, धर्मो पुनः शरणं रक्षकोऽगतिकानां गतिरिति कृत्वा धर्मं शरणमानीहीति।।६९९।।

एकत्वस्वरूपमाह —

सयणस्स परियणस्स य मज्झे एक्को रुवंतओ दुहिदो ।
वज्जदि मच्चुवसगदो ण जणो कोई समं एदि ।।७००।।

उसी प्रकार से —

गाथार्थ — जन्म-जरा-मरण से सहित इस जगत में जरा और मरणरूप महाशत्रु का निवारण करने वाले ऐसे जिनशासन को छोड़कर अन्य कोई शरण नहीं है।।६९८।।

आचारवृत्ति — टीका सरल है। तथा —

गाथार्थ — मरण भय के आ जाने पर इन्द्र सहित भी देवगण रक्षा नहीं कर सकते हैं। धर्म ही रक्षक है, शरण है और वही एक गति है इस प्रकार से अशरणपने का चिन्तवन करो।।६९९।।

आचारवृत्ति — मरणभय के उपस्थित होने पर देवेन्द्र सहित सुर-असुरगण भी जीव की रक्षा नहीं कर सकते हैं इसलिये जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित धर्म ही रक्षक है, आश्रय है और वही एक गति है ऐसा चिन्तवन करो; क्योंकि अन्य कोई भी आश्रयभूत नहीं है किन्तु यह धर्म ही त्राता है। जिनके लिये कोई भी गति नहीं है उनके लिये वही एक गति है ऐसा जानकर एकमात्र धर्म को ही शरण समझो। यह अशरण भावना हुई।

एकत्व का स्वरूप कहते हैं —

गाथार्थ — स्वजन और परिजन के मध्य रोग से पीड़ित, दुःखी, मृत्यु के वश हुआ यह एक अकेला ही जाता है, कोई भी जन इसके साथ नहीं जाता।।७००।।

स्वजनस्य भ्रातृव्यपितृव्यादिकस्य, परिजनस्य दासीदासमित्रादिकस्य च मध्ये, एकोऽसहायः, रुजार्तो व्याधिग्रस्तो दुःखितः रुदन् व्रजति मृत्युवशंगतो न जनः कश्चित् तेन सममेति गच्छति।।७००।।

तथा—

एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे ।
एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं ।।७०१।।

एकः करोति शुभाशुभं कर्म, एकं एव च हिण्डते भ्रमति दीर्घसंसारे, एको जायते, एकश्च म्रियते, एवं चिन्तय भावयैकत्वमिति।।७०१।।

अन्यत्वस्वरूपमाह—

मादुपिदुसयणसंबंधिणो य सव्वे वि अत्तणो अण्णे ।
इह लोग बंधवा ते ण य परलोगं समं णेंति ।।७०२।।

मातृपितृस्वजनसंबंधिनः सर्वेऽपि आत्मनोऽन्ये पृथग्भूता इह लोके बांधवा न्निचित्कार्यं कुर्वन्ति ते न परलोकं समं यान्ति गच्छन्ति—नामुत्र लोके बान्धवास्ते भवन्तीत्यर्थः।।७०२।।

आचारवृत्ति—भतीजा, चाचा आदि स्वजन हैं; दासी, दास, मित्र आदि परिजन हैं। इनके मध्य में भी यह जीव असहाय है। अकेला ही यह जीव व्याधि से पीड़ित होता है, अकेला ही दुःखी होता है, रोता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। अन्य कोई भी जन इसके साथ परलोक नहीं जाता है।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—अकेला ही यह जीव कर्म करता है, एकाकी ही दीर्घ संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है—इस प्रकार से एकत्व का चिन्तवन करो।।७०१।।

आचारवृत्ति—यह जीव अकेला ही शुभ-अशुभ कर्म बाँधता है, अकेला ही दीर्घ संसार में परिभ्रमण करता है। अकेला ही जन्म और मरण करता है—इस तरह एकत्व भावना का चिन्तवन करो। यह एकत्व भावना हुई।

अन्यत्व का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—माता-पिता और स्वजन सम्बन्धी लोग ये सभी आत्मा से भिन्न हैं। वे इस लोक में बांधव हैं किन्तु परलोक में तेरे साथ नहीं जाते हैं।।७०२।।

आचारवृत्ति—ये माता-पिता, बन्धुवर्ग आदि जन मेरी आत्मा से पृथक्भूत हैं। इस लोक में कुछ कार्य करते हैं किन्तु परलोक में हमारे साथ नहीं जा सकते हैं अतः ये परलोक के बान्धव नहीं हैं।

तथा—

अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाहओत्ति मण्णंतो ।
अत्ताणं ण दु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्डं ।।७०३।।

अन्यः कश्चिदन्यं जीवं शोचयति मृतो मम नाथ इति मन्यमानः, आत्मानं न तु शोचयति संसारमहार्णवे संसारमहासमुद्र मग्नमिति।।७०३।।

शरीरादप्यन्यत्वमाह—

अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होज्ज बाहिरं दव्वं ।
णाणं दंसणमादात्ति एवं चिंतेहि[1] अण्णत्तं ।।७०४।।

शरीरमप्यन्यदिदं, किं पुनर्यद्बहिर्द्रव्यं नान्यदिति? तस्माज्ज्ञानं दर्शनमात्मेत्येवं चिन्तयान्यत्वमिति।।७०४।।

संसारस्य स्वरूपं विवृण्वन्नाह—

मिच्छत्तेणाछण्णो मग्गं जिनदेसिदं अपेक्खंतो ।
भमिहदि भीमकुडिल्ले जीवो संसारकंतारे ।।७०५।।

उसी प्रकार से और भी कहते हैं—

गाथार्थ—यह जो मर गया, मेरा स्वामी है ऐसा मानता हुआ अन्य जीव अन्य का शोच करता है किन्तु संसाररूपी महासमुद्र में डूबे हुए अपने आत्मा का शोक नहीं करता है।।७०३।।

आचारवृत्ति—टीका सरल है।

शरीर से भी भिन्नपना दिखाते हैं—

गाथार्थ—यह शरीर आदि भी अन्य हैं, पुनः जो बाह्य द्रव्य हैं वे तो अन्य हैं ही। आत्मा ज्ञानदर्शन स्वरूप है इस तरह अन्यत्व का चिन्तवन करो।।७०४।।

आचारवृत्ति—जब यह शरीर भी आत्मा से भिन्न है तो पुनः यह बाह्य द्रव्य गृह आदि क्या भिन्न नहीं होंगे ? अर्थात् वे प्रकट रूप से भिन्न हैं इसलिये ज्ञान-दर्शनरूप ही मेरी आत्मा है ऐसा अन्यत्व भावना का चिन्तवन करो। यह अन्यत्व भावना हुई।

संसार का स्वरूप बताते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व से सहित हुआ जीव जिनेन्द्र कथित मोक्षमार्ग को न देखता हुआ भयंकर और कुटिल ऐसे संसारवन में भ्रमण करता है।।७०५।।

---

१. चिंतिज्ज क

मिथ्यात्वेनाछन्नोऽश्रद्धानतमसा समंतादावृत्तः 'मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि' तं जिनदर्शितं जिनेन प्रतिपादितमपश्यन् अज्ञानाद्भ्रमत्ययं जीवः, संसारकान्तारे संसाराटव्यां, भीमे भयानके, कुटिलेऽतीवगहने मोहवल्यादिनिबद्ध इति।।७०५।।

चतुर्विधं संसारस्वरूपमाह —

दव्वे खेत्ते काले भावे य चदुव्विहो य संसारो ।
चदुगदिगमणणिबद्धो बहुप्पयारेहिं णादव्वो ।।७०६।।

संसरणं संसारः परिवर्तनं, तच्चतुर्विधं द्रव्यपरिवर्तनं क्षेत्रपरिवर्त्तनं कालपरिवर्त्तनं भावपरिवर्त्तनं भवपरिवर्त्तनं चात्रैव द्रष्टव्यमन्यत्र पंचविधस्योपदेशादिति। तत्र द्रव्यपरिवर्त्तनं द्विविधं नोकर्मपरिवर्त्तनं कर्मपरिवर्त्तनं चेति। तत्र नोकर्मपरिवर्त्तनं नाम त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेनैकस्मिन् समये गृहीताः स्निग्धरूक्षवर्ण-गंधादिभिन्नास्तीव्रमन्दमध्यभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णास्ततो गृहीतानंतवारानतीत्य मिश्रकांश्चानंतवारान्प्रगृह्य मध्ये गृहीतांश्चानंतवारान् समतीत्य तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्समुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्त्तनमिति।

आचारवृत्ति — तत्त्वों के अश्रद्धानरूपी अन्धकार से सब तरफ से ढका हुआ यह जीव जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय मार्ग को नहीं देखता हुआ, अज्ञानवश अतीव गहन, मोहरूपी बेल आदि से निबद्ध हो संसाररूपी भयानक वन में भटकता रहता है।

चार प्रकार के संसार का स्वरूप कहते हैं —

गाथार्थ — द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप चतुर्विध संसार है। यह चतुर्गति के गमन से संयुक्त है। इसे अनेक प्रकार से जानना चाहिये।।७०६।।

आचारवृत्ति — संसरण करना, परिवर्तन करना संसार है। उसके चार भेद हैं — द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन और भाव परिवर्तन। भव परिवर्तन को भी इन्हीं में समझना चाहिये, क्योंकि अन्यत्र ग्रन्थों में पाँच प्रकार के संसार का उपदेश किया गया है।

१. द्रव्य परिवर्तन दो प्रकार का है — नोकर्म परिवर्तन और कर्म परिवर्तन। उनमें नोकर्म परिवर्तन का स्वरूप बताते हैं —

एक जीव ने एक समय में तीन शरीर — औदारिक, वैक्रियिक, आहारक और छह पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्गल वर्गणाएँ ग्रहण की हैं उन्हें तीव्र, मन्द और मध्यमरूप जैसे भावों से ग्रहण किया है तथा वे वर्गणाएँ स्निग्ध, रूक्ष, वर्ण, गन्ध आदि से जिस प्रकार की हैं, द्वितीय आदि समयों में निर्जीर्ण हो गयीं। तदनन्तर वही जीव गृहीत पुद्गल वर्गणाओं

कर्मद्रव्यपरिवर्त्तनमुच्यते — एकस्मिन् समये जीवेनैकेनाष्टविधकर्मभावेन ये पुद्गला गृहीताः समयाधिकामावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णास्ततो गृहीतानगृहीतान्मिश्रानन-तवारानतीत्य त एव कर्मस्कन्धास्तेनैव विधिना तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्त्तनमिति। क्षेत्रपरिवर्त्तनमुच्यते — सूक्ष्मनिगोतजीवोऽपर्याप्तकः सर्वजघन्यप्रदेश-शरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान् स्वशरीरमध्यप्रदेशान् कृत्वोत्पन्नः शुद्धभवग्रहणं जीवित्वा मृतः स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिस्तथा चतुरित्येवं यावदंगुलस्या-संख्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्वा तत्रैव जनित्वा पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वो लोक आत्मनो जन्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति यावत्तावत् क्षेत्रपरिवर्त्तनमिति। काल-परिवर्तनमुच्यते — उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चिज्जीवः स्वायुषः परिसमाप्तौ मृतः स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वायुषः क्षयान्मृतः स एव पुनस्तृतीयस्या

को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ता जावे, पुनः मिश्र वर्गणाओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़े, पुनः मध्य में ग्रहण किये गये ऐसे गृहीत परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़े। पुनः वही जीव उस पहले समय के ग्रहण किये गये प्रकार से उतनी ही पुद्गल वर्गणाओं को उसी प्रकार के भावों से और वैसे ही स्निग्ध, रूक्ष, वर्ण, गन्ध वाले परमाणुओं को जब ग्रहण करता है तब उतने काल प्रमाण वह उसका नोकर्म परिवर्तन कहलाता है।

२. कर्मद्रव्य परिवर्तन को बताते हैं —

एक जीव ने एक समय में आठ प्रकार के कर्मभाव से जो पुद्गल ग्रहण किये हैं। एक समय अधिक एक आवली प्रमाण काल को बिताकर द्वितीय आदि समयों में वे कर्मवर्गणाएँ निर्जीण हो गयीं। पुनः गृहीत, अगृहीत और मिश्र पुद्गल वर्गणाओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ देने के बाद वही जीव उन्हीं पूर्व के कर्मस्कन्धों को उसी ही विधि से कर्मभाव से परिणमन कराता है। प्रारम्भ से लेकर तब तक के काल प्रमाण को कर्म द्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। क्षेत्रपरिवर्तन का स्वरूप कहते हैं — सर्व जघन्य प्रदेशरूप शरीरधारी सूक्ष्म निगोद जीव, जो कि अपर्याप्तक है, लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य प्रदेश करके उत्पन्न हुआ, शुद्ध भव ग्रहण कर जीवित रहकर मर गया, वही जीव पुनः उसी अवगाहना को धारण कर दूसरी बार उत्पन्न हुआ, उसी तरह तीसरी बार उत्पन्न हुआ, तथैव चौथी बार उत्पन्न हुआ। इसी तरह से अंगुल के असंख्यात भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं उतनी उसी जघन्य अवगाहना से जन्म लिया। पुनः वह एक-एक प्रदेश को अधिक ग्रहण करते हुए जितने काल में क्रम से सर्वलोक को अपने जन्म से जन्मक्षेत्ररूप कर लेता है तब उतने काल के हो जाने पर एक क्षेत्रपरिवर्तन होता है।

उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जातः स एवानेन क्रमेणोत्सर्पिणी परिसमाप्ता तथाऽवसर्पिणी च एवं जन्मनैरन्तर्यमुक्तं, मरणस्यापि तथैव ग्राह्यं, यावत्तावत्कालपरिवर्तनमिति। भावपरिवर्त्तन-मुच्यते— पंचेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तको मिथ्यादृष्टिः कश्चिज्जीवः सर्वजघन्यां स्वयोग्यां ज्ञानावरण-प्रकृतेः स्थितिमन्तःकोट्यकोटीसंज्ञिकामापद्यते, तस्य कषायाध्यवसायस्थानानि असंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि तत्स्थितियोग्यानि भवन्ति, तत्र सर्वजघन्य-कषायाध्यवसायस्थान-निमित्तान्यनुभवाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि भवन्ति, एवं सर्वजघन्यां स्थितिं सर्वजघन्यं च कषायाध्यवसानं सर्वजघन्यमेव चानुभागबंधस्थान-मास्कन्दतस्तद्योग्यं सर्वं जघन्यं योगस्थानं भवति, तेषामेव स्थितिकषायानुभवस्थानानां द्वितीयमसंख्येयभागवृद्धियुक्तं योगस्थानं भवति, एवं चतुःस्थानपतितानि कषायाध्यवसा-यस्थानानि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि योगस्थानानि भवन्ति, तथा तामेव स्थितिं तदेव कषायाध्यवसायस्थानं च प्रतिपद्यमानस्य द्वितीयानुभवाध्यवसायस्थानं भवति तस्य च योगस्थानानि पूर्ववद्दृष्टव्यानि, एवं तृतीयादिष्वप्यनुभवाध्यवसायस्थानेष्वसंख्येयलोक-

३. अब कालपरिवर्तन को कहते हैं—

कोई जीव उत्सर्पिणी के पहले समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु समाप्त होने पर मर गया, वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के क्षय से मर गया, वही जीव पुनः तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ। उसी क्रम से वहीं से उत्सर्पिणी के जितने समय हैं उनमें जन्म के क्रम से उत्सर्पिणी को समाप्त करे तथा अवसर्पिणी के भी जितने समय हैं उतने बार क्रम से जन्म के द्वारा अवसर्पिणी को भी समाप्त करे। इस तरह जन्म का निरन्तरपना कहा गया है। मरण का क्रम भी इसी तरह समझना चाहिये अर्थात् वही जीव उत्सर्पिणी के प्रथम समय में मरा, पुनः दूसरी उत्सर्पिणी के द्वितीय समय में मरा, पुनः तृतीय उत्सर्पिणी के तृतीय समय में मरा। इसी क्रम से उत्सर्पिणी के समय प्रमाण मरण करके पुनः अवसर्पिणी के प्रथम समय में मरण करे, पुनः दूसरी अवसर्पिणी के दूसरे समय में मरण करे। इसी क्रम से अवसर्पिणी के समयों को भी मरण से पूरा करे। तब एक काल परिवर्तन होता है।

४. भावपरिवर्तन को कहते हैं—

कोई पंचेन्द्रिय, संज्ञी पर्याप्तक, मिथ्यादृष्टि जीव सर्वजघन्य, स्वयोग्य ज्ञानावरण प्रकृति की अन्तःकोटाकोटी स्थिति को प्राप्त होता है, उसके कषाय-अध्यवसाय स्थान, असंख्यातलोक प्रमाण, षट्स्थान पतित उस स्थिति के योग्य होते हैं। वहाँ उसके सर्वजघन्य कषाय अध्यवसाय स्थान के निमित्त अनुभव अध्यवसायस्थान असंख्यातलोक प्रमाण होते हैं। इस तरह सर्वजघन्य स्थिति, सर्वजघन्य कषाय अध्यवसायस्थान और सर्वजघन्य

परिसमाप्तेः, एवं तामेव स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीयकषायाध्यवसायस्थानं भवति तस्याप्यनुभवाध्यवसायस्थानानि योगस्थानानि च पूर्ववद्वेदितव्यानि, एवं तृतीयादिष्वपि कषायाध्यवसायस्थानेषु असंख्येयलोकपरिसमाप्तेर्वृद्धिक्रमो वेदितव्यः, उक्तायाजघन्यस्थितेः समयाधिकायाः कषायाध्यवसायस्थानानि अनुभागाध्यवसायस्थानानि योगस्थानानि च पूर्ववद्वेदितव्यानि, एवं समयाधिकक्रमेण आ उत्कृष्टस्थितेस्त्रिंशत्सागरोपमकोट्याकोटीपरिमितायाः कषायाध्यवसायस्थानानि वेदितव्यानि, एवं सर्वेषां कर्मणां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च परिवर्त्तनक्रमो वेदितव्यस्तदेतत्सर्वं समुदितं भावपरिवर्त्तनमिति। चशब्देन सूचितं भवपरिवर्त्तनमुच्यते— नरकगतौ सर्वजघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि तेनायुषा तत्र कश्चिदुत्पन्नः पुनः परिभ्रम्य तेनैवायुषा तत्रैव जात एवं दशवर्षसहस्राणां यावन्तः समयास्तावत्कृत्वस्तत्रैव जातो तत्रैव मृतश्च पुनरेकैकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि, ततः प्रच्युत्त्य तिर्यग्गतावन्तर्मुहूर्त्तायुः समुत्पन्नः पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि तेनैव

ही अनुभागबन्धस्थान को प्राप्त करते हुए जीव के उसके योग्य जघन्य योगस्थान होता है तथा उन्हीं स्थिति, कषाय और अनुभव स्थानों के असख्यातभागवृद्धियुक्त दूसरा योगस्थान होता है। इस प्रकार से चतुःस्थान पतित कषाय अध्यवसायस्थान होते हैं और श्रेणी के असंख्यात भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। तदनंतर पूर्वोक्त ही स्थिति और पूर्वोक्त ही कषाय अध्यवसायस्थान को प्राप्त करने वाले जीव के दूसरा अनुभागअध्यवसायस्थान होता है, उसके योगस्थान पूर्ववत् समझना चाहिये। इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि अनुभव-अध्यवसाय-स्थानों में भी असंख्यातलोक की परिसमाप्ति होने तक समझना चाहिये। इस प्रकार उसी स्थिति को प्राप्त करने वाले के दूसरा कषाय-अध्यवसाय स्थान होता है, उसके भी अनुभव-अध्यवसाय स्थान और योगस्थान पूर्ववत् जानना चाहिये। इस प्रकार तृतीय, चतुर्थ आदि कषाय-अध्यवसायस्थानों में असंख्यातलोक परिसमाप्ति तक वृद्धि का क्रम समझना चाहिये। ऊपर जो एक समय अधिक जघन्य स्थिति कही है उसके कषाय-अध्यवसाय-स्थान, अनुभाग-अध्यवसाय-स्थान और योगस्थान पूर्ववत् जानने चाहिये। इस प्रकार एक-एक समय अधिक के क्रम से उत्कृष्ट स्थिति जो तीस कोड़ाकोड़ी सागर पर्यन्त है वहाँ तक कषायअध्यवसायस्थान समझना चाहिये। ऐसे ही सर्व कर्मों की मूल प्रकृतियों का और उत्तर प्रकृतियों का परिवर्तन क्रम जानना चाहिये। यह सर्वसमुदित भावपरिवर्तन कहलाता है।

५. अब गाथा के 'च' शब्द से सूचित भवपरिवर्तन का कथन करते हैं—

नरकगति में सर्वजघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। कोई जीव उस जघन्य आयु से नरक में उत्पन्न हुआ। संसार में भ्रमण करके पुनः वही जीव उसी दस हजार वर्ष की

परिसमापितानि, तथैवं मनुष्यगतौ देवगतौ च नरकगतिवत्, अयं तु विशेषः— एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि यावत्तावद्भवपरिवर्त्तनमिति। एवं चतुर्विधः पंचविधो वा संसारः चतुर्गतिगमननिबद्धो नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिभ्रमणहेतुको बहुप्रकारैः षट्सप्तादिभेदैर्ज्ञातव्य इति।।७०६।।

तथा षड्विधसंसारमाह —

किं केण कस्स कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो य।
छहिं अणिओगद्दारे सव्वे भावाणुगंतव्वा ।।७०७।।

कः संसारः ? संसरणं संसारश्चतुर्गतिगमनरूपः, केन भावेन संसारः ? औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिक-पारिणामिकादिभावेन, कस्य ? संसारिजीवस्याष्टविध-कर्मावष्टब्धस्यनारकतिर्यङ्मनुष्यदेवरूपस्य, क्व संसारः ? मिथ्यात्वासंयमकषाययोगेषु तिर्यग्लोके वा, कियच्चिरं संसारः ? अनाद्यनिधनोऽनादिसनिधनः, कतिविधः ? कतिप्रकार

आयु से उसी नरक में उत्पन्न हुआ, इसी तरह दस हजार वर्ष के जितने समय हैं उतनी बार उस जघन्य आयु से प्रथम नरक में जन्म लिया और मरण किया। पुनः एक-एक समय अधिक क्रम से तेतीस सागर पर्यन्त आयु को प्राप्त कर नरक के जन्म को समाप्त किया। वहाँ से निकलकर वही जीव तिर्यंचगति में अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य आयु से उत्पन्न हुआ। पुनः पूर्वकथित क्रम से तीन पल्य पर्यन्त उत्कृष्ट आयु तक पहुँच गया। इसी तरह मनुष्यगति में समझना। देवगति में नरकगति के समान है किन्तु अन्तर इतना ही है कि देवगति में इकतीस सागर की आयु तक ही पहुँचना होता है। यह सब मिलकर 'भव परिवर्तन' होता है।

यह चतुर्विध अथवा पंचविध संसार नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार गतियों में भ्रमण के निमित्त से होता है तथा छह, सात आदि भेदों से अनेक प्रकार का भी है ऐसा जानना चाहिये।

छह प्रकार के संसार को कहते हैं —

गाथार्थ — संसार क्या है ? किस प्रकार का है ? किससे है ? और कहाँ है ? कितने काल तक है ? और कितने प्रकार का है ? इन छह अनुयोगों के द्वारा सभी पदार्थों को समझना चाहिये।।७०७।।

आचारवृत्ति — संसार क्या है ? संसरण करना संसार है जो कि चारों गतियों में गमन रूप है। किस भाव से संसार होता है ? औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक आदि भावों से संसार होता है। किसके संसार है ? जो आठ प्रकार के कर्मों से सहित हैं ऐसे नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवरूप संसारी जीवों के संसार होता है। संसार

इति। अनेन प्रकारेण संसार एकविधो द्विविधस्त्रिविधश्चतुर्विधः पंचविधः षडविध इत्यादि, न केवलं संसारः षड्भिरनियोगद्वारैर्ज्ञायते किन्तु सर्वेऽपि भावाः पदार्था अनुगंतव्या ज्ञातव्या इत्यर्थः।।७०७।।

संसारे दुःखानुभवमाह —

तत्थ जरामरणभयं दुक्खं पियविप्पओग बीहणयं।
अप्पियसंजोगं वि य रोगमहावेदणाओ य ।।७०८।।

तत्रैवं विधे संसारे जरामरणभयं जन्मभयं दुःखं, जरामरणभवं जन्मभवं वा दुःखं कायिकं वाचिकं मानसिकं, प्रियेण विप्रयोगः पृथग्भाव इष्टवियोगदुःखं, भीषणं च महाभयानकं, अप्रियेण संयोगोऽनिष्टेन सहैकत्र वासोद्भवं दुःखं चाऽपि, रोगान् कासश्वासछर्दिकुष्ठव्याध्यादिजनितवेदनाश्चाप्नुवंतीति संबंधः।।७०८।।

तथा —

जायंतो य मरंतो जलथलखयरेसु तिरियणिरएसु।
माणुस्से देवत्ते दुक्खसहस्साणि पप्पोदि ।।७०९।।

कहाँ है ? मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग इन भावों में संसार है अथवा तिर्यक्लोक में संसार है। कितने काल तक संसार है ? यह अनादि अनन्त है और अनादि-सान्त है अर्थात् अभव्य और दूरानुदूर भव्यों की अपेक्षा अनादि-अनन्त है तथा भव्यों की अपेक्षा अनादि-सान्त है। यह संसार कितने प्रकार का है ? सामान्य संसरण की अपेक्षा यह संसार एक प्रकार का है, दो प्रकार का है, तीन प्रकार का है, चार प्रकार का है, पाँच प्रकार का है और छह प्रकार का है इत्यादि। इन छह अनुयोगों के द्वारा केवल संसार ही नहीं जाना जाता है किन्तु सभी पदार्थ भी जाने जाते हैं। ऐसा जानना चाहिये।

संसार में दुःखों के अनुभव को बताते हैं —

गाथार्थ — संसार में जरा और मरण का भय, इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग और रोगों से उत्पन्न हुई महावेदनाएँ ये सब भयंकर दुःख हैं।।७०८।।

आचारवृत्ति — उपर्युक्त कथित प्रकार वाले इस संसार में जन्म के भय का दुःख, जरा और मरण के भय का दुःख अथवा जन्म लेने से हुए दुःख जो कि कायिक, वाचनिक और मानसिक होते हैं। प्रियजनों के वियोग से इष्टवियोगज दुःख होता है, जो कि महाभयानक है। अप्रिय — अनिष्ट के साथ एकत्र रहने से अनिष्ट संयोगज दुःख होता है। खाँसी, श्वांस, छर्दि, कुष्ठ आदि रोगों से उत्पन्न हुई महावेदनाएँ भी जीवों को प्राप्त होती रहती हैं अतः यह संसार दुःखमय ही है।

जे भोगा खलु केई देवा माणुस्सिया य अणुभूदा ।
दुक्खं च णंतखुत्तो णिरिए तिरिएसु जोणीसु ।।७१०।।
संजोगविप्पओगा लाहालाहं सुहं च दुक्खं च ।
संसारे अणुभूदा माणं च तहावमाणं च ।।७११।।

तत्र संसारे जायमानो म्रियमाणश्च जलचरेषु स्थलचरेषु खचरेषु च मध्ये तिर्यक्षु नरकेषु च दुःखसहस्राणि प्राप्नोति, मनुष्यत्वे देवत्वे च पूर्वोक्तानि दुःखसहस्राणि प्राप्नोतीति सम्बन्धः।।७०९।।

तथा—

ये केचन भोगा दैवा मानुषाश्चानुभूताः सेवितास्तेषु भोगेषु अनंतवारान् दुःखं च प्राप्तं, नरकेषु तिर्यग्योनिषु च दुःखमनंतवारान् प्राप्तमिति।।७१०।।

तथा—

अस्मिन् संसारे जीवेन संयोगा इष्टसमागमाः, विप्रयोगा अनिष्टसमागमाः, स्वेष्टवस्तुनो लाभप्राप्तिः, अलाभोऽप्राप्तिश्चैते सर्वेऽप्यनुभूतास्तथा सुखं दुःखं चानुभूतं' तथा मानं पूजा, अपमानं परिभवश्चानुभूतमिति।।७११।।

उसी प्रकार से और भी दुःखों को दिखाते हैं—

गाथार्थ—जलचर, थलचर और नभचर में, तिर्यंचों में, नरकों में, मनुष्य योनि में और देवपर्याय में जन्म लेता तथा मरण करता हुआ यह जीव हजारों दुःखों को प्राप्त करता है।।७०९।।

वास्तव में जो कुछ भी देवों और मनुष्यों सम्बन्धी भोगों का अनुभव किया है वे भोग नरक और तिर्यंच योनियों में अनन्त बार दुःख देते हैं।।७१०।।

संयोग-वियोग, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान इन सबका संसार में मैंने अनुभव किया है।।७११।।

आचारवृत्ति—इस संसार में जन्म लेते हुए और मरण करते हुए जीव जलचर, थलचर और नभचरों में, तिर्यंचों में तथा नरकों में हजारों दुःखों को प्राप्त करते हैं। वैसे ही मनुष्य पर्याय और देवपर्याय में भी हजारों दुःखों का अनुभव करते हैं।

जो कुछ भी भोग देवगति और मनुष्यगति के हैं उनका इस जीव ने अनुभव किया है, पुनः भोगों के फलस्वरूप नरक और तिर्यंच योनियों में इसने अनन्त बार दुःखों का अनुभव किया है।

इस संसार में जीव ने इष्ट समागम, अनिष्ट समागम, इष्ट वस्तु का लाभ व अलाभ, सुख व दुःख तथा मान-पूजा और अपमान-तिरस्कार इन सबका अनुभव किया हुआ है।

संसारानुप्रेक्षामुपसंहरन्नाह—

एवं बहुप्पयारं संसारं विविहदुक्खथिरसारं ।
णाऊण विचिंतिज्जो तहेव लहुमेव णिस्सारं ।।७१२।।

एवं बहुप्रकारं संसारं विविधानि दुःखानि स्थिरः सारो यस्यासौ विविधदुःखस्थिरसारस्तं संसारं ज्ञात्वा लघुमेव शीघ्रं निःसारं चिन्तयेत् भावयेदिति।।७१२।।

लोकानुप्रेक्षां विवृण्वन्नाह—

एगविहो खलु लोओ दुविहो तिविहो तहा बहुविहो वा ।
दव्वेहिं पज्जएहिं य चिंतिज्जो [१]लोयसब्भावं ।।७१३।।

षड्भिरनुयोगद्वारैर्लोकोऽपि ज्ञातव्यः। सामान्येनैकविधः, लोक्यन्त उपलभ्यन्ते पदार्था यस्मिन्निति स लोकः। ऊर्ध्वाधःस्वरूपेण द्विविधः, ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्स्वरूपेण त्रिविध उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूपेण वा त्रिविधः, गतिरूपेण चतुर्विधः, अस्तिकायादिभेदेन पंचविधः, षड्द्रव्यस्वरूपेण षड्विधः, पदार्थद्वारेण सप्तविधः, कर्मरूपेणाऽष्टविधः, इत्येवं बहुविधः, द्रव्यैः, पर्यायैश्चद्रव्यभेदेन पर्यायभेदेन लोकसद्भावं बहुप्रकारं चिन्तयेत् ध्यायेदिति।।७१३।।

संसारानुप्रेक्षा का उपसंहार कहते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार नाना दुःखों की स्थिरता के सारभूत इस बहुत भेदरूप संसार को जानकर उसी प्रकार से उसे तत्क्षण निःसाररूप चिन्तवन करो।।७१२।।

आचारवृत्ति—विविध प्रकार के दुःखों का स्थायी अवस्थारूप होना ही जिसका सार है ऐसे अनेक भेदरूप इस संसार को समझकर शीघ्र ही 'यह निःसार है' ऐसा चिन्तवन करो।

लोकानुप्रेक्षा को कहते हैं—

गाथार्थ—वास्तव में लोक एक प्रकार का है, दो प्रकार, तीन प्रकार तथा अनेक प्रकार का भी है। इस तरह द्रव्य और पर्यायों के द्वारा लोक के सद्भाव का विचार करें।।७१३।।

आचारवृत्ति—पूर्व कथित छह अनुयोगों के द्वारा लोक को भी जानना चाहिये। सामान्य से लोक एक प्रकार का है, जिसमें पदार्थ अवलोकित होते हैं, उपलब्ध होते हैं, वह लोक है; इस अपेक्षा से लोक एक प्रकार का है। ऊर्ध्वलोक और अधोलोक के भेद से यह दो प्रकार का है। ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक के भेद से तीन प्रकार का है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप से भी तीन प्रकार का है। चार गति के रूप से चार प्रकार का है। पाँच अस्तिकायों के भेद से पाँच प्रकार का है। छह द्रव्यों के स्वरूप से छह प्रकार

---

१. लोग क

लोकस्वरूपमाह —

लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो ।
जीवाजीवेहिं भुडो णिच्चो तालरुक्खसंठाणो ।।७१४।।

लोकोऽकृत्रिमः खलु न केनाऽपि कृतः, खलु स्फुटमेतत्प्रमाणविषयत्वात्, अनादिनिधन आद्यन्तवर्जितः, स्वभावनिष्पन्नो विश्वसारूप्येण स्थितः, जीवाजीवैश्च पदार्थैर्भृतः पूर्णः, नित्यः सर्वकालमुपलभ्यमानत्वात्, तालवृक्षसंस्थानस्तालवृक्षाकृतिः, अधो विस्तीर्णः सप्तरज्जुप्रमाणो मध्ये संकीर्ण एकरज्जुप्रमाणः पुनरपि ब्रह्मलोके विस्तीर्णः पंचरज्जुप्रमाण ऊर्ध्वं संकीर्ण एकरज्जुप्रमित इति।।७१४।।

लोकस्य प्रमाणमाह —

धम्माधम्मागासा गदिरागदि जीवपुग्गलाणं च ।
जावत्तावल्लोगो आगासमदो परमणंतं ।।७१५।।

धर्माधर्मौ लोकाकाशं च यावन्मात्रे जीवपुद्गलानां च गतिरागतिश्च यावन्मात्रं तावल्लोकोऽतः परमित ऊर्ध्वमाकाशं पंचद्रव्याभावोऽनंतमप्रमाणं केवलज्ञानगम्यमिति।।७१५।।

का है। सात पदार्थों— तत्त्वों के द्वारा सात प्रकार का है। आठ कर्मों के विकल्प से आठ प्रकार का है, इत्यादि रूप से यह अनेक प्रकार का है। इस तरह द्रव्यों के भेद से तथा पर्यायों के भेद से इस लोक के अस्तित्व का अनेक प्रकार से चिन्तवन करना चाहिये।

लोक का स्वरूप कहते हैं —

गाथार्थ — निश्चय से यह लोक अकृत्रिम,अनादि-अनन्त, स्वभाव से सिद्ध, नित्य और तालवृक्ष के आकार वाला है तथा जीवों और अजीवों से भरा हुआ है।।७१४।।

आचारवृत्ति — यह लोक अकृत्रिम है क्योंकि निश्चय से यह किसी के द्वारा भी किया हुआ नहीं है अतः स्पष्ट रूप से यह प्रमाण का विषय है अर्थात् इस लोक का या सृष्टि का कर्ता कोई नहीं है जिनागम में यह बात प्रमाण से सिद्ध है। यह आदि और अन्त से रहित होने से अनादि अनन्त है। स्वभाव से ही निर्मित है अर्थात् विश्वस्वरूप से स्वयं ही स्थित है। जीव और अजीव पदार्थों से पूर्णतया भरा हुआ है। नित्य है चूँकि सर्वकाल ही इसकी उपलब्धि हो रही है। तालवृक्ष के समान आकार वाला है अर्थात नीचे में सात राजू प्रमाण चौड़ा है,मध्य में संकीर्ण एक राजू प्रमाण है, पुनः ब्रह्मलोक में पाँच राजू प्रमाण चौड़ा है और ऊपर में संकीर्ण होकर एक राजू प्रमाण रह गया है।

लोक का प्रमाण बताते हैं —

गाथार्थ — जहाँ तक धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य हैं तथा जीव और पुद्गलों का गमनागमन है वहाँ तक लोक है इसके परे अनन्त आकाश है।।७१५।।

पुनरपि लोकस्य संस्थानमित्याह —

हेट्ठा मज्झे उवरिं वेत्तासणझल्लरीमुदंगणिभो ।
मज्झिमवित्थारेण दु चोद्दसगुणमायदो लोओ ।।७१६।।

हेट्ठा अधःप्रदेशे मध्यप्रदेशे उपरिप्रदेशे च यथासंख्येन वेत्रासनझल्लरीमृदंगनिभः अधो वेत्रासनाकृतिर्मध्ये झल्लर्याकृतिरूर्ध्वं मृदङ्गाकृतिरिति, मध्यमविस्तार [१]प्रमाणेन चतुर्दशगुणः, मध्यमविस्तारस्य [२]प्रमाणमेका रज्जुः सा च चतुर्दशभिर्गुणिता लोकस्यायामो भवति, वातवलयादधस्तादारभ्य यावन्मोक्षस्थानं तयोर्मध्य आयाम इत्युच्यते। स आयामश्चतुर्दशरज्जुमात्र इति। घनाकारेण यदि पुनर्मीयते तदा त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशतरज्जुमात्रो भवतीति।।७१६।।

तत्र लोके जीवाः किं कुर्वन्तीत्याह —

तत्थणुहवंति जीवा सकम्मणिव्वत्तियं सुहं[४] दुक्खं ।
जम्मणमरणपुणब्भवमणंतभवसायरे भीमे ।।७१७।।

आचारवृत्ति — जितने में धर्म, अधर्म और लोकाकाश हैं और जीवों का व पुद्गलों का गमन-आगमन है उतने मात्र को लोक संज्ञा है। इससे परे सभी ओर आकाश है। वहाँ पर पाँच द्रव्यों का अभाव है और वह आकाश अनन्त प्रमाण है क्योंकि वह केवलज्ञानगम्य है।

यह लोक पुनरपि किसके आकार का है ? सो ही बताते हैं —

गाथार्थ — अधोलोक वेत्रासन के समान, मध्यलोक झल्लरी के समान और ऊर्ध्वलोक मृदंग के समान है, पुनः मध्यम विस्तार एक राजू से चौदह गुणे ऊँचा यह लोक है।।७१६।।

आचारवृत्ति — इस लोक का अधोभाग वेत्रासन— मोढ़ा के आकार वाला है। मध्य प्रदेश झल्लरी के आकार का है और ऊर्ध्व भाग ढोलक के समान है। इसका मध्यम विस्तार एक राजू है उसे चौदह से गुणा करने पर अर्थात् चौदह राजू प्रमाण इस लोक की ऊँचाई है। नीचे के वातवलय से लेकर मोक्षस्थानपर्यन्त के मध्य का जो भाग है उसे आयाम या ऊँचाई कहते हैं अर्थात् लोक की ऊँचाई चौदह राजू है। यदि इसको घनाकार से मापेंगे तो यह लोक तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण होता है।

इस लोक में जीव क्या करते हैं ? सो ही बताते हैं —

गाथार्थ — इस लोक में जीव अपने कर्मों द्वारा निर्मित सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। भयानक अनन्त भव समुद्र में पुनः पुनः जन्म-मरण करते हैं।।७१७।।

---

१. विस्तर क २. विस्तरस्थ क ३. तत्त्रयात्मके क ४. सुहदुःखं क

तत्र च लोके जीवाः स्वकर्मनिर्वर्त्तितं स्वक्रियानिष्पादितं सुखं दुःखं चानुभवन्ति, अनंतभवसागरे च जन्ममरणं पुनर्भवं च पुनरावृत्तिं च भीमे भयानके कुर्वन्तीत्यर्थः।।७१७।।

पुनरप्यसमंजसमाह —

मादा य होदि धूदा धूदा मादुत्तणं पुण उवेदि ।
पुरिसो वि तत्थ इत्थी पुमं च अपुमं च होइ जए ।।७१८।।

अस्मिंल्लोके संसारे माता च भवति दुहिता सुता, दुहिता च पुनर्मातृत्वमुपैतिप्राप्नोति, पुरुषोऽपि तत्र जगति स्त्री भवति, स्त्र्यपि पुमान्, पुरुषोऽपुमान्नपुंसकं च लोके भवतीति संबंधः।।७१८।।

पुनरपि लोकगतसंसारविरूपतां दर्शयन्नाह; —

होऊण तेयसत्ताधिओ[1] दु बलविरियरूवसंपण्णो ।
जादो वच्चघरे किमि धिगत्थु संसारवासस्स ।।७१९।।

विदेहस्वामी राजा तेजः — प्रतापः सत्त्वं — स्वाभाविकसौष्ठवं ताभ्यामधिकस्तेजः सत्वाधिको भूत्वा तथा बलवीर्यरूपसम्पन्नश्च भूत्वा पश्चात्स राजा वर्चोगृहेऽशुचिस्थाने कृमिः संजातो यत एवं ततः संसारवासं धिगस्तु धिग्भवतु संसारे वासमिति।।७१९।।

आचारवृत्ति — इस लोक में सभी जीव अपने द्वारा उपार्जित शुभ-अशुभ कर्मों के द्वारा निष्पन्न हुए ऐसे सुख-दुःख को भोगते रहते हैं। इस भयंकर अनन्तरूप महासंसार सागर में जन्म-मरण का अनुभव करते हैं अर्थात् पुनः-पुनः भव ग्रहण करते हैं।

पुनः लोक में जो असमंजस अवस्थाएँ होती हैं, उन्हें दिखाते हैं —

गाथार्थ — माता पुत्री हो जाती है और पुत्री माता हो जाती है। यहाँ पर पुरुष भी स्त्री और स्त्री भी पुरुष तथा पुरुष भी नपुंसक हो जाता है।।७१८।।

आचारवृत्ति — इस संसार में माता पुत्री हो जाती है और पुत्री मातृपने को प्राप्त हो जाती है। पुरुष स्त्री हो जाता है, स्त्री पुरुष हो जाती है तथा पुरुष नपुंसक हो जाता है। ऐसे परस्पर में असमंजस अघटित सम्बन्ध भी होते रहते हैं।

पुनरपि लोकगत संसार की विरूपता दिखाते हैं —

गाथार्थ — प्रताप और पराक्रम से अधिक तथा बल, वीर्य और रूप से सम्पन्न होकर भी राजा विष्ठागृह में कीड़ा हो गया अतः संसारवास को धिक्कार हो।।७१९।।

आचारवृत्ति — विदेह देश का राजा अधिक प्रतापी और स्वाभाविक सौष्ठव से सहित होने से अधिक सत्वशाली था। बल, वीर्य और रूप से सहित था, फिर भी वह मरकर अपवित्र स्थान में कृमि हो गया। इस संसार की ऐसी ही स्थिति है अतः इस संसार में वास करने को धिक्कार!

---

१. सत्ताहिओ क

पुनरपि लोकस्य स्वरूपमाह —

धिग्भवदु लोगधम्मं देवा वि य सुरवदीय महड्ढीया ।
भोत्तूण सुक्खमतुलं पुणरवि दुक्खावहा होंति ।।७२०।।

धिग्भवतु लोकधर्मं लोकस्वरूपं, यस्माद्देवः सुरपतयोऽपि महर्द्धिका महाविभूतयो भूत्वा सौख्यमतुलं सुखमनुपमं भुक्त्वा पुनरपि दुःखावहा भवन्ति दुःखस्य भोक्तारो भवन्तीति।।७२०।।

लोकानुप्रेक्षामुपसंहरन्नाह —

णाऊण लोगसारं णिस्सारं दीहगमणसंसारं ।
लोगग्गसिहरवासं झाहि पयत्तेण सुहवासं ।।७२१।।

एवं लोकस्य सारं निःसारं तु ज्ञात्वा दीर्घगमनं संसारं च ज्ञात्वा संसारं चापर्यन्तमवबुध्य लोकाग्रशिखरवासं मोक्षस्थानं सुखवासं निरुपद्रवं ध्यायस्व चिन्तय प्रयत्नेनेति।।७२१।।

अशुभानुप्रेक्षास्वरूपं निरूपयन्नाह —

णिरिएसु असुहमेयंतमेव तिरियेसु बंधरोहादी ।
मणुएसु रोगसोगादियं तु दिवि माणसं असुहं ।।७२२।।

पुनः लोक की स्थिति स्पष्ट करते हैं —

गाथार्थ — इस लोक की स्थिति को धिक्कार हो जहाँ पर देव, इन्द्र और महर्द्धिक देवगण भी अतुल सुख को भोगकर पुनः दुःखों के भोक्ता हो जाते हैं।।७२०।।

आचारवृत्ति — इस संसार के स्वरूप को धिक्कार हो कि जिसमें महाविभूतिमान देव और इन्द्र अनुपम सुख को भोगकर पुनः मरकर गर्भवास आदि में दुःख के अनुभव करने वाले हो जाते हैं।

लोकानुप्रेक्षा का उपसंहार करते हुए कहते हैं —

गाथार्थ — बहुत काल तक भ्रमण रूप संसार निस्सार है। ऐसे इस लोक के स्वरूप को जानकर सुख के निवासरूप लोकाग्रशिखर के आवास का प्रयत्नपूर्वक ध्यान करो।।७२१।।

आचारवृत्ति — इस तरह इस लोक का सार निस्सार है तथा यह संसार अनन्त अपार है — ऐसा जानकर जो लोकाग्रशिखरवास मोक्षस्थान है वही निरुपद्रव है। तुम सर्वप्रयत्नपूर्वक ऐसा चिन्तवन करो। इस तरह लोक भावना का वर्णन हुआ।

अशुभ अनुप्रेक्षा का स्वरूप निरूपित करते हैं —

गाथार्थ — नरकों में एकान्त से अशुभ ही है। तिर्यंचों में बन्धन और रोधन आदि, मनुष्यों में रोग, शोक आदि और स्वर्ग में मन सम्बन्धी अशुभ है।।७२२।।

---

१. त्रिलोकसार गाथा ४।

नरकेष्वशुभमेकान्ततः सर्वकालमशुभमेव, तिर्यक्षु [१]महिषाश्ववारणादिषु बंधरोधादयो बंधनधरणदमनदहनताडनादयः, मनुष्येषु रोगशोकादयस्तु, दिवि देवलोके मानसमशुभं परप्रेषणवाहनमहर्द्धिक-दर्शनेन मनोगतं सुष्ठु दुःखमिति।।७२२।।

तथार्थद्वारेण दुःखमाह —

आयासदुक्खवेरभयसोगकलिरागदोसमोहाणं ।
असुहाणमावहो वि य अत्थो मूलं अणत्थाणं ।।७२३।।

आयासोऽर्थार्जनतत्परता, दुःखमसातावेदनीयकर्मोदयनिमित्तासुखरूपं, वैरं मरणानुबंधः, भयं भयकर्मोदयजनितत्रस्तता, शोकः शोककर्मोदयपूर्वकेष्टवियोगजः संतापः, कलिर्वचन-प्रतिवचनकृतो द्वन्द्वः, रागो रतिकर्मोदयजनिता प्रीतिः, द्वेषोऽरतिकर्मोदयोद्भूताऽप्रीतिः, मोहो मिथ्यात्वासंयमादिरूप इत्येवमादीनामशुभानामावहोऽवस्थानं, अर्थः स्त्रीवस्त्रसुवर्णादिरूपः, अथवैतान्यशुभान्यावहति प्राप्यतीति आयासाद्यशुभावहः, अनर्थानां च सर्वपरिभवानं च मूलं कारणमर्थस्तस्मात्तेन यच्छुभं तच्छुभं एवं न भवतीति।।७२३।।

आचारवृत्ति — नरक में एकान्त से सर्वकाल अशुभ ही है। भैंस, घोड़ा, हाथी, बकरा आदि तिर्यंचों में बाँधना, रोकना, दमन करना, जलाना, ताड़न करना, पीटना आदि दुःख प्राप्त होते हैं। मनुष्यों में रोग, शोक आदि अशुभ दुःख होते हैं तथा स्वर्ग में देवों को मानसिक दुःख होता है, सो ही अशुभ है अर्थात् दूसरे देवों द्वारा प्रेरित होकर भृत्य कार्य करना, दूसरों के वाहन बनना अथवा अन्य देवों की महान् ऋद्धियों को देखकर मन में खिन्न होना — ये सब मनोगत अत्यन्त दुःख होते हैं।

अर्थ के द्वारा जो दुःख होते हैं, उन्हें दिखाते हैं —

गाथार्थ — धन सब अनर्थों का मूल है, उससे श्रम, दुःख, वैर, भय, शोक, कलह, रागद्वेष और मोह इन अशुभों का प्रसंग होता ही है।।७२३।।

आचारवृत्ति — धन का उपार्जन करने में प्रयत्नशील होने से जो खेद होता है वह आयास है। असातावेदनीय कर्म के उदय के निमित्त से जो खेद होता है वह दुःख है। मरणान्त द्वेष को वैर कहते हैं। भय कर्म के उदय से जो त्रास होता है वह भय है। शोक कर्म के उदयपूर्वक इष्ट वियोग से उत्पन्न हुआ सन्ताप शोक है। वचन-प्रतिवचन रूप द्वन्द्व कलह है अर्थात् आपस में झगड़ने का नाम कलह है। रतिकर्म के उदय से उत्पन्न हुई प्रीति राग है। अरतिकर्म के उदय से उत्पन्न हुई अप्रीति द्वेष है। मिथ्यात्व, असंयम आदि रूप परिणाम मोह हैं। ये सब अशुभ कहलाते हैं। अर्थ से ही ये सभी अशुभ परिणाम होते हैं अथवा यह अर्थ ही सभी अशुभों को प्राप्त कराने वाला है।

१. अश्वमहिषवारणादिसु क०

तथा कामसुखमप्यशुभमिति प्रतिपादयति[१] —

दुग्गमदुल्लहलाभा भयपउरा अप्पकालिया लहुआ ।
कामा दुक्खविवागा असुहा सेविज्जमाणा वि ।।७२४।।

दुःखेन कृच्छ्रेण गम्यन्त इति दुर्गमा[२] विषमस्था दुरारोहाः, दुर्लभो लाभो येषां ते दुर्लभलाभाः स्वेप्सितप्राप्तयो न भवन्ति, भयं प्रचुरं येभ्यस्ते भयप्रचुरा दंडमारणवंचनादि-भयसहिताः, अल्पकाले भवा अल्पकालिकाः सुष्ठु स्तोककालाः, लघुका निःसाराः, के ते? कामा मैथुनाद्यभिलाषा दुःखं विपाक फलं येषां बंधनादि ते दुःखविपाका दुःखावसानाः अशुभाः सेव्यमाना अपि, तत्राऽपि न सुखमस्तीति भावः सर्वाशुभमेवेति।।७२४।।

आहारादपि न सुखं भवतीत्याह —

असुइविलिविले गब्भे वसमाणो वत्थिपडलपच्छण्णो ।
मादूइसिंभ[३] लालाइयं तु तिव्वासुहं पिबदि ।।७२५।।

स्त्री, वस्त्र, सुवर्ण आदि को अर्थ कहते हैं। यह अर्थ सर्व अनर्थों का मूल है अर्थात् इससे नाना प्रकार के परिभव तिरस्कार प्राप्त होते हैं इसलिये इससे जो शुभ होता है वह शुभ ही नहीं है, ऐसा समझना अर्थात् धन, स्त्री आदि पदार्थों से जो कुछ भी सुख प्रतीत है वह सुख नहीं है, प्रत्युत सुखाभास ही है।

कामसुख भी अशुभ हैं, ऐसा दिखाते हैं —

गाथार्थ — जो दुःख से और कठिनता से मिलते हैं, भय प्रचुर हैं, अल्पकाल टिकने वाले हैं, तुच्छ हैं, जिनका परिणाम दुःखरूप है, ऐसे ये इन्द्रिय-विषय सेवन करते समय भी अशुभ ही हैं।।७२४।।

आचारवृत्ति — पंचेन्द्रियों के विषय सुखों को कामसुख कहते हैं। ये विषय सुख-दुःख मिलने वाले होने से दुर्गम हैं अर्थात् विषम स्थिति वाले और दुरारोह हैं। इनकी प्राप्ति बड़ी कठिनता से होती है अतः ये दुर्लभ हैं अर्थात् इच्छित की प्राप्ति नहीं हो पाती है। इनसे भय की प्रचुरता है अर्थात् इनसे दण्ड, वंचना आदि भय होते ही रहते हैं, ये क्षणिक हैं अर्थात् स्वल्पकाल ठहरने वाले हैं, निस्सार हैं, ऐसे मैथुन आदि की अभिलाषा रूप जो ये कामसुख हैं इनके विपाक फल अन्त में दुःखदायी ही हैं। ये सेवन करते समय भी अशुभ ही हैं अर्थात् इनके सेवनकाल में भी सुख नहीं है प्रत्युत वह सुख की कल्पना मात्र है इसलिये सर्व अशुभ ही हैं।

आहार से भी सुख नहीं होता है, सो ही कहते हैं —

गाथार्थ — अशुचि से व्याप्त गर्भ में रहता हुआ यह जीव जरायु पटल से ढका हुआ है। वहाँ पर माता के कफ और लार से युक्त अतीव अशुभ को पीता है।।७२५।।

१. प्रतिपादयन्नाह क० २. सुष्ठु विषमस्था क० ३. मादूअसिंभ लाला—द० क०

अशुच्याविले मूत्रपुरीषश्लेष्मपित्तरुधिरादिबीभत्से, गर्भ उदराभ्यंतरे, वसन् संस्थितः, वस्तिपटलप्रच्छन्नः जरायुरावृतः, मातृश्लेष्मलालायितं जनन्या चर्वितं श्लेष्मलालासमन्वितं रसं तीव्रं दुर्गन्धं पिबति यत एवंभूतो मूलाहारस्ततः कथमाहारात् सुखमित्याहारोऽप्यशुभरूप एवेति।।७२५।।

शरीरमप्यशुभमिति निरूपयन्नाह —

मंसट्ठिसिंभवसरुहिरचम्मपित्तं तमुत्तकुणिपकुडिं ।
बहुदुक्खरोगभायण सरीरमसुभं वियाणाहि ।।७२६।।

मांसास्थिश्लेष्मवसारुधिरचर्मपित्तांत्रमूत्रकुणिपाशुचिकुटीं गृहमेतेषां बहुदुःखरोगभाजनं शरीरमिदमशुभमशुचि विजानीहीति।।७२६।।

तस्मात् —

अत्थं कामसरीरादियं पि सव्वमसुभत्ति णादूण ।
णिव्विज्जंतो झायसु जह जहसि कलेवरं असुइं ।।७२७।।

अर्थं स्त्रीवस्त्रादिकं, कामं मैथुनादिकं, शरीरादिकमपि सर्वमशुभमिति जगति ज्ञात्वा निर्वेदं गच्छन् ध्यायस्व चिन्तय यथा [१]जहासि कुत्सितकलेवरमशुचि, शरीरवैराग्यं च सम्यक् चिंतयेति।।७२७।।

आचारवृत्ति — मल, मूत्र, कफ, पित्त, रुधिर आदि से बीभत्स — ग्लानियुक्त ऐसे माता के उदर में तिष्ठता हुआ यह जीव वहाँ पर जरायुपटल से आवृत्त हो रहा है। वहाँ पर माता के द्वारा खाये गये भोजन से बने हुए कफ, लार आदि से सहित अत्यन्त दुर्गन्धित रस पीता रहता है। यदि जीव का मूल आहार ऐसा है तो फिर आहार से सुख कैसे होगा ? इसलिये आहार भी अशुभ रूप ही है, ऐसा समझना।

शरीर भी अशुभ है, ऐसा निरूपण करते हैं —

गाथार्थ — माँस, अस्थि, कफ, वसा, रुधिर, चर्म, पित्त, आंत, मूत्र इन अपवित्र पदार्थों की झोपड़ी रूप बहुत प्रकार के दुःख और रोगों के स्थानस्वरूप इस शरीर को अशुभ ही जानो।।७२६।।

आचारवृत्ति — यह शरीर माँस, हड्डी, कफ, मेद, रक्त, चमड़ा, पित्त, आंत, मूत्र और मल इन अशुभ पदार्थों का घर है। तीव्र दुःखकर रोगों का स्थान है। ऐसा यह शरीर तुम अशुभ — अपवित्र जानो।

इसलिये क्या करना चाहिये ? सो ही बताते हैं —

गाथार्थ — अर्थ, काम और शरीर आदि ये सभी अशुभ हैं ऐसा जानकर विरक्त होते हुए जैसे अशुचि शरीर छूट जाये वैसा ही ध्यान करो।।७२७।।

---

१. जहासि त्यजसि द०

अशुभानुप्रेक्षां संक्षेपयन्नाह —

मोत्तूण जिणक्खादं धम्मं सुहमिह दु णत्थि लोगम्मि ।
ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चिंतेज्जो ।।७२८।।

ससुरासुरेषु नरकतिर्यङ्मनुष्येषु जिनख्यातं धर्मं मुक्त्वा शुभमिहान्यन्नास्ति, एवं चिन्तयेत्, लोके धर्ममन्तरेणान्यच्छुभं न भवतीति जानीहि।।७२८।।

आस्रवानुप्रेक्षां प्रकटयन्नाह —

दुक्खभयमीणपउरे संसारमहण्णवे परमघोरे ।
जंतू जं तु णिमज्जदि कम्मासवहेदुयं सव्वं ।।७२९।।

दुःखभयान्येव मीना मत्स्यास्त एव प्रचुराः प्रभूता यस्मिन् स दुःखभयमीनप्रचुरस्तस्मिन् संसारमहार्णवे परमघोरे सुष्ठु रौद्रे जन्तुर्जीवो यस्मान्निमज्जति प्रविशति तत्सर्वं कर्मास्रवहेतुकं कर्मादाननिमित्तमिति।।७२९।।

आचारवृत्ति — अर्थ — स्त्री, वस्त्र आदि; काम — मैथुन आदि और शरीर आदि ये सभी अशुभ हैं। ऐसा इस लोक में जानकर उनसे निर्वेद को प्राप्त होते हुए ध्यान करो अर्थात् जिस प्रकार से यह कुत्सित शरीर छोड़ सकते हो उसी प्रकार से शरीर के वैराग्य का और संसार के वैराग्य का अच्छी तरह से चिंतवन करो।

अशुभ अनुप्रेक्षा को संक्षिप्त करते हुए कहते हैं —

गाथार्थ — जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित धर्म को छोड़कर सुर-असुर, तिर्यंच, नरक और मनुष्य से सहित इस जगत में कुछ भी शुभ नहीं है।।७२८।।

आचारवृत्ति — सुर-असुरों से सहित तथा तिर्यंच, नारकी और मनुष्यों से संयुक्त इस संसार में जिनेन्द्रदेव के धर्म को छोड़कर और कुछ भी शुभ रूप नहीं है, ऐसा समझो। यह अशुभ अनुप्रेक्षा हुई।

भावार्थ — अन्यत्र तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों में अशुचि अनुप्रेक्षा ऐसा नाम है, किन्तु यहाँ इसे 'अशुभ' ऐसा नाम दिया है। सो नाम मात्र का ही भेद है। अर्थ में प्रायः समानता है। वहाँ अशुचिभावना में केवल शरीर आदि सम्बन्धी अपवित्रता का चिन्तन होता है तो यहाँ सर्व अशुभ-दुःखदायी वस्तुयें — धन, इन्द्रिय-सुख आदि तथा शरीर आदि सम्बन्धी अशुभपने का विचार किया गया।

आस्रव अनुप्रेक्षा को प्रगट करते हैं —

गाथार्थ — दुःख और भयरूपी प्रचुर मत्स्यों से युक्त, अतीव घोर संसार रूपी समुद्र में जीव जो डूब रहा है वह सब कर्मास्रव का निमित्त है।।७२९।।

के आस्रवा इत्याशंकायामाह —

रागो दोसो मोहो इंदियसण्णा य गारवकसाया ।
मणवयणकायसहिदा दु आसवा होंति कम्मस्स ।।७३०।।

रागद्वेषमोहपंचेन्द्रियाहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञाः ऋद्धिगौरवरसगौरवसातगौरवकषायाश्च मनोवचनकायसहिता एवं सर्व एते कर्मण आस्रवा भवन्ति— कर्माण्येतैरागच्छन्तीति।।७३०।।

रागादीन् विवेचयन्नाह —

रंजेदि असुहकुणपे रागो दोसो वि दूसदी णिच्चं ।
मोहो वि महारिवु जं णियदं मोहेदि सब्भावं ।।७३१।।

रागो जीवं कुणपे वस्तुनि रंजयति — कुत्सिते द्रव्येऽनुरागं कारयति रागः। द्वेषोऽपि शोभनमपि द्वेष्टि — सम्यग्दर्शनादिषु द्वेषं कारयति। नित्यं सर्वकालं। मोहोऽपि महारिपुर्महावैरी यस्मान्नियतं निश्चयेन मोहयति सद्भावं — जीवस्य परमार्थरूपं तिरयतीति।।७३१।।

यत एवंभूतो मोहोऽतस्तं कुत्सयन्नाह —

धिद्धी मोहस्स सदा जेण हिदत्थेण मोहिदो संतो ।
ण विबुज्झदि जिणवयणं हिदसिवसुहकारणं मग्गं ।।७३२।।

आचारवृत्ति — दुःख और भय रूप ही जिसमें बहुत से मत्स्य भरे हुए हैं ऐसे इस भयंकर संसार रूपी समुद्र में यह जीव जिस कारण से डूब रहा है वह सब कर्मास्रव का ही निमित्त है।

वे आस्रव कौन-कौन हैं ? सो ही बताते हैं —

गाथार्थ — राग, द्वेष, मोह, पाँच इन्द्रियाँ, संज्ञायें, गारव और कषाय तथा मन, वचन, काय ये कर्म के आस्रव होते हैं।।७३०।।

आचारवृत्ति — राग, द्वेष, मोह, पाँच इन्द्रियाँ, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञायें, रसगौरव, ऋद्धिगौरव और सातगौरव ये तीन गौरव और कषाय तथा मन-वचन-काय इन सभी के द्वारा कर्मों का आगमन होता है अतः ये आस्रव कहलाते हैं।

रागादि का विवेचन करते हैं —

गाथार्थ — राग अशुभ-कुत्सित में अनुरक्त करता है। द्वेष भी नित्य ही अप्रीति कराता है। मोह भी महाशत्रु है जोकि निश्चित रूप से सत्पदार्थ में मूढ़ कर देता है।।७३१।।

आचारवृत्ति — राग जीव को निन्द्य द्रव्य में भी अनुराग कराता है, द्वेष भी हमेशा प्रशस्त सम्यग्दर्शन आदि में द्वेष कराता है और मोह भी महावैरी है कि जो निश्चय से जीव के परमार्थ रूप को तिरोहित कर देता है, ढक देता है।

धिक्-धिक् भवतु मोहं — मोहः प्रलयं गच्छतु। येन मोहेन हृदयस्थेन[1] मोहितो मूढ़ः सन् न विबुध्यते तन्न जानाति जिनवचनं परमागमं। किं विशिष्टं ? हितशिवसुखकारणं मार्गं — एकांतवादिपरिकल्पितसुखनिमित्तमार्गविपरीतं येन मोहेन हृदयस्थेन न विबुध्यते तं मोहं धिग्भवन्त्विति।।७३२।।

रागद्वेषौ कुत्सयन्नाह —

जिणवयण सद्दहाणो वि तिव्वमसुहगदिपाववं कुणइ[2]।
अभिभूदो जेहिं सदा धित्तेसिं रागदोसाणं ।।७३३।।

याभ्यां रागद्वेषाभ्यामभिभूतः कदर्थितोऽयं जीवो जिनवचनं श्रद्दधानोऽपि तत्वरुचिसहितोऽप्यशुभगतिहेतुकं तीव्रं पापं करोति श्रेणिकादिवत्, धिग्भवतस्तौ रागद्वेषौ, इति दर्शने सत्यपि रागद्वेषौ पुरुषस्य पापं जनयत इति तयोर्निराकरणे संभ्रमः कार्य इति।।७३३।।

यह मोह इस प्रकार का है, अतः इसकी निन्दा करते हुए आचार्य कहते हैं —

गाथार्थ — मोह को धिक्कार हो! धिक्कार हो! कि जिस हृदय में स्थित मोह के द्वारा मोहित होता हुआ यह जीव हित रूप, शिव सुख का हेतु, मोक्षमार्ग रूप ऐसे जिन-वचन को नहीं समझता है।।७३२।।

आचारवृत्ति — इस मोह को धिक्कार हो! अर्थात् यह मोह प्रलय को प्राप्त हो जावे, हृदय में विद्यमान जिसके द्वारा मूढ़ हुआ यह जीव जिन आगम को नहीं जानता है। जिनागम जो कि हितरूप मोक्षसुख का कारण है तथा एकान्तवादियों द्वारा परिकल्पित सुख के कारणरूप मार्ग से विपरीत है अर्थात् जिस मोह के द्वारा जीव मोक्षमार्ग को नहीं पाता है उस मोह को धिक्कार!

राग-द्वेष की निन्दा करते हुए कहते हैं —

गाथार्थ — जिनके द्वारा पीड़ित हुआ जीव जिनवचन का श्रद्धान करते हुए भी तीव्र अशुभगतिकारक पाप करता है उन राग और द्वेष को सदा धिक्कार हो।।७३३।।

आचारवृत्ति — जिन राग-द्वेष के द्वारा पीड़ित हुआ यह जीव तत्त्वों की रुचिरूप सम्यग्दर्शन से युक्त होता हुआ भी श्रेणिक आदि के समान अशुभ गति के लिये कारण ऐसे तीव्र पापों को करता है, ऐसे इन राग-द्वेषों को धिक्कार हो। तात्पर्य यह है कि जीव के सम्यग्दर्शन के होने पर भी ये राग-द्वेष पाप को उत्पन्न करते हैं अतः इनका निराकरण करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

---

१. हृदयस्थितेन क०
२. कुणदि क०

विषयाणां दुष्टत्वमाह —

अणिहुदमणसा इदे इंदियविसया णिगेण्हिदुं दुक्खं ।
मंतोसहिहीणेण व दुट्ठा आसीविसा सप्पा ।।७३४।।

तानि कुत्सयन्नाह —

धित्ते सिमिंदियाणं जेसिं वसेदो दु पावमज्जणिय ।
पावदि पावविवागं दुक्खमणंतं भवगदिसु[१] ।।७३५।।

एकाग्रचित्तमन्तरेणैतानिन्द्रियविषयान्निग्रहीतुंदुःखमेतेषां रूपरसगंधस्पर्श-शब्दविषयाणामिन्द्रियाणां निग्रहं कर्तुं न शक्यते चलचित्तेन। यथा मंत्रौषधिहीनेन दुष्टा आशीविषाः सर्पा वशीकर्तुं न शक्यन्त इति।।७३४।।

धिग्भवतु तानीन्द्रियाणि, येषामिन्द्रियाणां वशतो वशं गतः पापमर्जयित्वा च पापं संगृह्य प्राप्नोति, तस्य पापस्य विपाकं फलं भवगतिषु च दुःखमनंतं प्राप्नोतीति।।७३५।।

संज्ञागौरवाणां स्वरूपमाह —

सण्णाहिं गारवेहिं अ गुरुओ गुरुगं तु पावमज्जणिय ।
तो कम्मभारगुरुओ गुरुगं दुक्खं समणुभवइ ।।७३६।।

आहारादिसंज्ञाभिर्गौरवैश्च गुरुः सन् गुरुकं तु पापमर्जयित्वा पापभारं स्वीकृत्य ततः पापभारेण गुरुर्भूत्वा ततो गुरुकं दुःखं समनुभवतीति।।७३६।।

इन्द्रिय विषयों की दुष्टता बतलाते हुए उनकी निन्दा करते हैं —

गाथार्थ — चंचल मन से इन इन्द्रिय-विषयों का निग्रह करना कठिन है। जैसे कि मन्त्र और औषधि के बिना दुष्ट आशीविष जाति वाले सर्पों को वश में करना कठिन है।।७३४।।

उन इन्द्रियों को धिक्कार हो कि जिनके वश से पाप का अर्जन करके यह जीव चारों गतियों में पाप के फलरूप अनन्त दुःख को प्राप्त होता है।।७३५।।

आचारवृत्ति — एकाग्रचित्त के बिना चंचल चित्त वाले मनुष्यों को पाँचों इन्द्रियों के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन विषयों का निग्रह करना शक्य नहीं है जैसे कि मन्त्र और औषधि से रहित मनुष्य को दुष्ट आशीविष सर्पों का वशीकरण करना शक्य नहीं है इसलिये इन इन्द्रियों को धिक्कार हो कि जिनके वश में हुआ यह जीव पाप का संग्रह करता है और उस पाप के फलस्वरूप चारों गतियों में अनन्त दुःखों को प्राप्त करता है।

संज्ञा और गौरव का स्वरूप कहते हैं —

गाथार्थ — संज्ञा और गौरव से भारी होकर तीव्र पाप का अर्जन करके उस कर्म के भार से गुरु होकर महान् दुःखों का अनुभव करता है।।७३६।।

१. भवगतिषु

कषायास्रवस्वरूपमाह —

कोधो माणो माया लोभो य दुरासया कसायरिऊ ।
दोससहस्सावासा दुक्खसहस्साणि पावंति ।।७३७।।

क्रोधमानमायालोभा दुराश्रया दुष्टाश्रयाः कषायरिपवः दोषसहस्राणामावासाः दुःखसहस्राणि जीवान् प्रापयंति — दुःखसहस्रैः कषाया जीवान् संबंधयतीत्यर्थः।।७३७।।

पुनरप्यास्रवानाह —

हिंसादिएहिं पंचहिं आसवदारेहिं आसवदि पावं ।
तेहिंतु धुव विणासो सासवणावा जह समुद्दे ।।७३८।।

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहैः पंचभिरास्रवद्वारैरास्रवति कर्मोपढौकते पापं। तेभ्यश्चाश्रितेभ्यो ध्रुवो निश्चयरूपो विनाशो जीवस्य भवति। यथा सास्रवा नौः पोतः समुद्रे निमज्जति, एवं कर्मास्रवैर्जीवः संसारसागरे निमज्जतीति।।७३८।।

आचारवृत्ति — आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओं द्वारा और रस आदि तीन गौरवों द्वारा गुरु अर्थात् भारभूत होता हुआ यह जीव गुरुक — अनेक पाप-भार को स्वीकार करके पुनः उसी पापभार से गुरु — भारी होकर गुरुक — बहुत से दुःखों का अनुभव करता है।

कषायास्रव का स्वरूप कहते हैं —

गाथार्थ — क्रोध, मान, माया और लोभ ये दुष्ट आश्रयरूप कषाय शत्रु हजारों दोषों के स्थान हैं, ये हजारों दुःखों को प्राप्त कराते हैं।।७३७।।

आचारवृत्ति — ये क्रोध-मान-माया-लोभ रूपी कषाय शत्रु दुष्ट आश्रयरूप हैं। हजारों दोषों के आवास स्थान हैं, ये जीवों को हजारों दुःख प्राप्त कराते हैं अर्थात् ये कषाय हजारों दुःखों के साथ जीव का सम्बन्ध करा देते हैं।

पुनरपि आस्रवों को कहते हैं —

गाथार्थ — हिंसा आदि आस्रव द्वार से पाप का आना होता है। उनसे निश्चित ही विनाश होता है। जैसे जल के आस्रव से सहित नौका समुद्र में डूब जाती है।।७३८।।

आचारवृत्ति — हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच आस्रव द्वारों से पापकर्म आते हैं और इन कर्मों के आने से निश्चित ही जीव का विनाश होता है। जैसे कि जल के आने के द्वार सहित नौका समुद्र में डूब जाती है। इस प्रकार से कर्मों के आस्रव से यह जीव संसार सागर में डूब जाता है — यह अभिप्राय हुआ।

आस्रवानुप्रेक्षामुपसंहरन्नाह —

एवं बहुप्पयारं कम्मं आसवदि दुट्ठमट्ठविहं ।
णाणावरणादीयं दुक्खविवागं ति चिंतेज्जो ।।७३९।।

एवं ज्ञानावरणादिकं कर्माष्टविधं भेदेन बहुप्रकारं दुष्टं वाऽऽस्रवति यस्मात्तस्मात्तमास्रवं दुःखविपाकमिति कृत्वा चिन्तयेत् भावयेदिति।।७३९।।

यस्मादेवमास्रवैः कर्मास्रवति तस्मात्संवरमाह —

तम्हा कम्मासवकारणाणि सव्वाणि ताणि रुंधेज्जो ।
इंदियकसायसण्णागारवरागादिआदीणि ।।७४०।।

तस्मात्कर्मास्रवकारणानि सर्वाणि यानि तानि निरोधयेत् निवारयेत्। कानि तानि ? इन्द्रियकषायसंज्ञागौरवरागादिकानि। यस्मादेतैः कर्मागच्छति तस्मादेतानि सर्वाणि निरोधयेदिति।।७४०।।

रुद्धेषु तेषु यद्भवति तदाह —

रुद्धेसु कसायेसु अ मूलादो होंति आसवा रुद्धा ।
दुब्भत्तम्हि णिरुद्धे वणम्मि णावा जह ण एदि ।।७४१।।

आस्रव अनुप्रेक्षा का उपसंहार करते हुए कहते हैं —

गाथार्थ — इस तरह बहु प्रकार का कर्म दुष्ट है, जो कि ज्ञानावरण आदि से आठ प्रकार का है तथा दुःखरूप फल वाला है ऐसा चिन्तवन करे।।७३९।।

आचारवृत्ति — इन उपर्युक्त कारणों से ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार का कर्म अपने भेदों से अनेक प्रकार का है अथवा दुष्ट-दुःखदायी है। वह आता है इसी का नाम आस्रव है। सो इन आस्रवों का फल दुःखरूप है, इस प्रकार से भावना करो। यह आस्रवानुप्रेक्षा हुई।

जिस कारण इन आस्रवों से कर्म आता है, इस कारण ही संवर को कहते हैं —

गाथार्थ — इन्द्रियाँ, कषाय, संज्ञा, गारव, राग आदि ये कर्मास्रव के कारण हैं इसलिये इन सबका निरोध करें।।७४०।।

आचारवृत्ति — अतः जो कर्म के आने के कारण हैं उन सबका निवारण करना चाहिये। वे इन्द्रिय, कषाय, संज्ञा, गारव और राग-द्वेष आदि हैं अर्थात् इन्हीं कारणों से आत्मा में कर्मों का आना है अतः इन सबका निरोध करना चाहिये।

इनके रुक जाने पर जो होता है, सो बताते हैं —

गाथार्थ — कषायों के रुक जाने पर मूल से आस्रव रुक जाते हैं जैसे वन में जल के रुक जाने पर नौका नहीं चलती है।।७४१।।

रुद्धेषु च कषायेषु च मूलादारभ्य मूलत आस्रवाः सर्वेऽपि रुद्धाः सम्यक् पिहिता भवंति यथा दुर्वहति वने पानीये — दुष्टे वहति स्रोतसि जले, अथ व्रणे — विवरे, दुष्टे वहति, निरुद्धे विधृते, नावं नैति जलं यथा। अथवा नालिकेरादित्वग्भिर्बद्धा नौः सास्रवा सत्यपि नयति प्राप्नोति परतीरं, अथवा नैति विनाशं। कषायेषु निरुद्धेषु आस्रवा रुद्धा यथा नावं नैति जलं रुद्धेषु, यथा च सास्रवा नौर्दुर्वहति पानीये निरुद्धे मूलतस्तस्या नावः सर्वेऽपि आस्रवा निरुद्धा भवंति ततः सा नौर्नयति प्रापयतीष्टस्थानमानयति वा स्वेष्टं वस्तु-विनाशं च न गच्छति, एवं कषायेषु रुद्धेषु मूलतः सर्वेऽप्यास्रवा निरुद्धा भवंति ततो यद्यपि योगादिद्वारैः सास्रवो जंतुस्तथाऽपि रत्नत्रयं मोक्षपत्तनं नयतीति।।७४१।।

इन्द्रियसंवरस्वरूपमाह —

इंदियकसायदोसा णिग्घिप्पंति तवणाणविणएहिं ।
रज्जूहि णिधिप्पंति हु उप्पहगामी जहा तुरया ।।७४२।।

इन्द्रियाणि कषाया द्वेषाश्चैते निगृह्यन्ते निरुध्यन्ते यथासंख्यं[1] तपसा ज्ञानेन विनयेन। इन्द्रियाणि तपसा निगृह्यन्ते, कषाया ज्ञानभावनया वशीक्रियंते, द्वेषो विनयक्रियया प्रलयमुपनीयते।

आचारवृत्ति — कषायों के रुक जाने पर जड़ मूल से सभी आस्रव रुक जाते हैं। जैसे स्रोत के जल को रोक देने पर या जल आने के छिद्र को बन्द कर देने पर नौका में जल नहीं आता है अथवा नारियल आदि के त्वक् (रस्सी) आदि से बँधी हुई नौका में यद्यपि पानी आने के द्वार होने पर भी वह तीर को प्राप्त करा देती है अथवा वह विनष्ट नहीं होती है अर्थात् कषायों के रुकने पर आस्रव रुक जाते हैं। जैसे पानी आने के द्वार सहित नाव है फिर भी पानी के रोक देने पर उस नाव में सभी तरफ से पानी रुक जाता है तब वह नाव मनुष्य को उसके इष्ट स्थान पर पहुँचा देती है अथवा उसकी इष्ट वस्तु नष्ट नहीं होती है, जल में नहीं डूबती है। इस तरह कषायों के रुक जाने पर मूल से सभी आस्रव रुक जाते हैं। यद्यपि योग आदि के द्वारा जीव क्षीणमोह और सयोगकेवली आस्रव सहित हैं फिर भी वे अपने रत्नत्रय को मोक्षनगर में ले जाते हैं। यह अभिप्राय हुआ।

इन्द्रिय संवर का स्वरूप कहते हैं —

गाथार्थ — इन्द्रिय, कषाय और दोष ये तप, ज्ञान और विनय के द्वारा निगृहीत होते हैं। जैसे कुपथगामी घोड़े नियम से रस्सी से निगृहीत किये जाते हैं।।७४२।।

आचारवृत्ति — इन्द्रियों का तप से निग्रह होता है, कषायें ज्ञानभावना से वश में की जाती हैं और विनयक्रिया से द्वेष प्रलय को प्राप्त हो जाता है। जैसे कि उन्मार्ग में चलने वाले घोड़े निश्चित ही चर्ममयी रस्सी (चाबुक) से वशीभूत किये जाते हैं।

यथोत्पथगामिन उन्मार्गयायिनस्तुरगा अश्वा निगृह्यन्ते वशतामुपनीयन्ते रज्जुभिर्वरत्राभिः खल्विति[१]।।७४२।।

चारित्रसंवरस्य स्वरूपमाह —

मणवयणकायगुत्तिंदियस्स समिदीसु अप्पमत्तस्स ।
आसवदारणिरोहे णवकम्मरयासवो ण हवे ।।७४३।।

मनोवचनकायैर्गुप्तेन्द्रियस्य समितिषु चेर्याभाषैषणाऽऽदाननिक्षेपोच्चार[२] प्रस्रवणसंज्ञिकास्वप्रमत्तस्य सुष्ठु प्रमादरहितस्य चारित्रवत आस्रवद्वारनिरोधे यैर्द्वारैः कर्मागच्छति तेषां निरोधे सति नवकर्मरजस आस्रवो न भवेत् — अभिनवकर्मागमो न भवेदिति।।७४३।।

पुनरपि संक्षेपत आस्रवं संवरं चाह —

मिच्छत्ताविरदीहिं य कसायजोगेहिं जं च आसवदि ।
दंसणविरमणणिग्गहणिरोधणेहिं तु णासवदि ।।७४४।।

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगैर्यत्कर्मास्रवति तत्कर्म सम्यग्दर्शनविरतिनिग्रहनिरोधनैस्तु यथासंख्यं[३] नास्रवति नागच्छतीति।।७४४।।

चारित्रसंवर का स्वरूप कहते हैं —

गाथार्थ — मन-वचन-काय से इन्द्रियों को वश में करने वाले, समितियों में अप्रमादी साधु के आस्रव का द्वार रुक जाने से नवीन कर्मरज का आस्रव नहीं होता है।।७४३।।

आचारवृत्ति — जिन्होंने मन, वचन और काय से अपनी इन्द्रियों को गुप्त अर्थात् वश में कर लिया है, जो ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उच्चारप्रस्रवण नामक पाँच समितियों में प्रमाद से रहित — सावधान हैं ऐसे अप्रमत्त चारित्रधारी साधु के जिन द्वारों से कर्मास्रव होता है उनका निरोध हो जाने पर उनके नवीन कर्मों का आगमन नहींहोता है।

पुनरपि संक्षेप से आस्रव और संवर को कहते हैं —

गाथार्थ — मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इनसे जो कर्म आते हैं वे दर्शन, विरति, निग्रह और निरोध से नहीं आते हैं।।७४४।।

आचारवृत्ति — मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इनसे आत्मा में जो कर्म आते हैं वे क्रमशः सम्यग्दर्शन, विरति, इन्द्रिय निग्रह और योगनिरोध इन कारणों से नहीं आते हैं — रुक जाते हैं। इस तरह कर्मों का आना आस्रव और कर्मों का रुकना संवर — इन दोनों का वर्णन यहाँ किया गया है।

---

१. स्फुटमिति क० २. निक्षैपोच्चारणं प्रस्रवणं क० ३. यथासंख्येन क०

संवरानुप्रेक्षां संक्षेपयन् तस्याश्च फलं प्रतिपादयन्नाह —

संवरफलं तु णिव्वाणमेत्ति संवरसमाधिसंजुत्तो ।
णिच्चुज्जुत्तो भावय संवर इणमो विसुद्धप्पा ।।७४५।।

संवरफलं निर्वाणमिति कृत्वा संवरेण समाधिना चाथवा संवरध्यानेन संयुक्तः सन् नित्योद्युक्तश्च सर्वकालं यत्नपरं भावयेमं संवरं विशुद्धात्मा सर्वद्वन्द्वपरिहीणः — संवरं प्रयत्नेन चिन्तयेति।।७४५।।

निर्जरास्वरूपं विवृण्वन्नाह —

रुद्धासवस्स एवं तवसा जुत्तस्स णिज्जरा होदि ।
दुविहा य सा वि भणिया देसादो सव्वदो चेव ।।७४६।।

रुद्धास्रवस्य पिहितकर्मागमद्वारस्यैवं तपसा युक्तस्य निर्जरा भवति — कर्मशातनं भवति। साऽपि च निर्जरा द्विविधा भणिता, देशतः सर्वतश्च [१]कर्मैकदेशनिर्जरा सर्वकर्मनिर्जरा चेति।।७४६।।

देशनिर्जरास्वरूपमाह —

संसारे संसरंतस्स खओवसमगदस्स कम्मस्स ।
सव्वस्स वि होदि जगे तवसा पुण णिज्जरा विउला ।।७४७।।

अब संवर-अनुप्रेक्षा को संक्षिप्त करते हुए और उसका फल बतलाते हुए कहते हैं —

गाथार्थ — संवर का फल निर्वाण है इसलिये संवर-समाधि से युक्त, नित्य ही उद्यमशील, विशुद्ध आत्मा मुनि इस संवर की भावना करे।।७४५।।

आचारवृत्ति — संवर का फल तो निर्वाण है — ऐसा समझकर संवर और समाधि अथवा संवर ध्यान से संयुक्त होते हुए सर्वकाल यत्न में तत्पर, सर्व द्वन्द्वों से रहित मुनि प्रयत्नपूर्वक इस संवर अनुप्रेक्षा का चिन्तवन करे। यह संवर अनुप्रेक्षा हुई।

निर्जरा का स्वरूप कहते हैं —

गाथार्थ — इस प्रकार जिनके आस्रव रुक गया है और जो तपश्चर्या से युक्त हैं उनके निर्जरा होती है। वह भी देश और सर्व की अपेक्षा से दो प्रकार की कही गयी है।।७४६।।

आचारवृत्ति — जिन मुनिराज ने कर्मागम का द्वार बन्द कर दिया है और तपश्चरण से सहित हैं उनके कर्म के झड़ने रूप निर्जरा होती है। उस निर्जरा के दो भेद हैं — कर्मों की एकदेश निर्जरा और सर्वकर्म निर्जरा।

---

१. 'एककर्मैक' इति प्रेस-पुस्तके पाठः।

संसारे चतुर्गतिसंसरणे, संसरतः पर्यटतः, क्षयोपशमगतकर्मणः किंचित् क्षयमुपगतं किंचिदुपशान्तं किंचित्सत्स्वरूपेण स्थितं कर्म तस्य कर्मणो या निर्जरा सा सर्वस्यैव जीवस्य भवति जगति सा च देशनिर्जरा तपसा पुनर्निर्जरा विपुला—तपोग्निना भस्मीकृतस्य सर्वस्य कर्मणो निर्जरा सकलेति।।७४७।।

सकलनिर्जरायाः फलं स्वरूपं चाह—

जह धादू धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो[१] ।
तवसा तहा विसुज्झदि जीवो कम्मेहिं कणयं व ।।७४८।।

यथा धातुस्सुवर्णपाषाणः धम्यमानः शुध्यति किट्टकालिमादिरहितो भवति अग्निना तु सन्तप्तः सन्, तथा तपसा विशुध्यते कर्मभ्यो जीवः सर्वकर्मविमुक्तः स्यात्कनकमिव। यथा धातुर्धम्यमानोऽग्निना सन्तप्तः कनकः स्यात्तथा जीवस्तपसा संतप्तः सिद्धः संपद्यत इति।।७४८।।

एकदेश निर्जरा का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—संसार में संसरण करते हुए जीव के क्षयोपशम को प्राप्त कर्मों की निर्जरा जगत् में सभी जीवों के होती है और पुनः तप से विपुल निर्जरा होती है।।७४७।।

आचारवृत्ति—चतुर्गति के संसरण रूप ऐसे इस संसार में संसरण करते हुए जीव के क्षयोपशम को प्राप्त करते हुए कर्मों की जो निर्जरा होती है वह सभी संसारी जीवों को होती है वह देशनिर्जरा है। तपरूपी अग्नि से भस्म किये हुये सभी कर्मों की जो निर्जरा होती है वह सकल निर्जरा है। जिन कर्मों के कुछ अंश क्षय को प्राप्त हो चुके हैं, कुछ उपशम अवस्था को प्राप्त हैं, कुछ उदय में आ रहे हैं और कुछ सत्ता में स्थित हैं उसको क्षयोपशम कहते हैं।

सकल निर्जरा का फल और स्वरूप बताते हैं—

गाथार्थ—जैसे अग्नि से धमाया गया धातु सन्तप्त हुआ शुद्ध हो जाता है वैसे ही स्वर्ण के समान ही जीव तप द्वारा कर्मों से शुद्ध हो जाता है।।७४८।।

---

१. फलटन से प्रकाशित मूलाचार में यह गाथा अधिक है—
आवेसणी सरीरे इन्दियभंडो मणो व आगरिओ।
धमिदव्व जीवलोहो वावीसपरीसहग्गीहिं।।
अर्थ-यह शरीर आवेशनी—चूल्हा के समान है। इन्द्रियाँ भांड अर्थात् अलंकार बनाने के साधन चिमटा, हथौड़ा आदि के समान हैं, मन सुवर्णकार के समान है, जीव सुवर्ण धातु के समान है और क्षुधा तृषादि परीषह अग्नि के समान हैं अर्थात् शरीररूपी चूल्हे—भट्टी में बाईस परीषहरूपी अग्नि में मनरूपी उपाध्याय या सुवर्णकार के द्वारा तपाया गया यह जीवरूपी सुवर्ण कर्मरूपी मल के नष्ट हो जाने से निर्मल—शुद्ध हो जाता है।

तपसो माहात्म्यमाह—

णाणवरमारुदजुदो सीलवरसमाधिसंजमुज्जलिदो ।
दहइ तवो भवबीयं तणकट्ठादी जहा अग्गी ।।७४९।।

ज्ञानवरमारुतयुतं मत्यादिज्ञानबृहद्वातसहितं, शीलं व्रतपरिरक्षणं, वरसमाधिरेकाग्र्यचिन्तानिरोधः, पंचनमस्कृतिसहितः संयमः प्राणिदया इन्द्रियनिग्रहश्चैतैरुज्ज्वलितं प्रज्वलितं दीप्तं तपो दहति भवबीजं संसारकारणं। तृणकाष्ठादिकं [१]यथाऽग्निर्दहति तथेति।।७४९।।

पुनरपि—

चिरकालमज्जिदं पि य विहुणदि तवसा रयत्ति णाऊण ।
दुविहे तवम्मि णिच्चं भावेदव्वो हवदि अप्पा ।।७५०।।

चिरकालं संख्या (म)तीतसमयं कर्मार्जितमपि तपसा विधूयत इति ज्ञात्वा द्विविधे तपसि नित्यं निरन्तरमात्मा भावयितव्यो भवतीति।।७५०।।

आचारवृत्ति—जैसे स्वर्णपाषाण जब धमाया जाता है तब अग्नि से सन्तप्त होता हुआ किट्ट कालिमा रहित शुद्ध सुवर्ण हो जाता है। उसी प्रकार से यह जीव तपश्चरण से तपाया हुआ सर्वकर्म से रहित होकर शुद्ध सिद्ध हो जाता है।

तप का माहात्म्य बतलाते हैं—

गाथार्थ—श्रेष्ठ ज्ञानरूपी हवा से युक्त शील, श्रेष्ठ समाधि व संयम से प्रज्वलित हुई तपरूपी अग्नि भवबीज को जला देती है, जैसे कि अग्नि तृण काठ आदि को जला देती है।।७४९।।

आचारवृत्ति—मतिज्ञान आदि महान वायु से सहित, शील, समाधि और प्रज्वलित—उद्दीपित तपरूपी अग्नि संसार के बीज—कारणों को भस्मसात् कर देती है, जैसे कि अग्नि तृण, काठ आदि को भस्मसात् कर देती है। व्रतों का रक्षण जिससे होता है वह शील है। एकाग्रचिन्ता निरोधरूप ध्यान को वरसमाधि कहते हैं। पंचनमस्कार के साथ प्राणियों पर दया करना और इन्द्रिय-निग्रह करना संयम है। इनसे तपरूपी अग्नि को उद्दीपित किया जाता है और उसमें मति, श्रुत आदि ज्ञानरूपी हवा की जाती है अर्थात् सम्यक्ज्ञान और चरित्र से युक्त तप संसार के कारणों को नष्ट कर देता है।

पुनरपि उसी को बताते हैं—

गाथार्थ—चिरकाल से अर्जित भी कर्मरज तप से उड़ा दी जाती है, ऐसा जानकर दो प्रकार के तप में नित्य ही आत्मा को भावित करना चाहिये।।७५०।।

---

१. यथाग्निरिति क०

भावितात्मा स नु किं स्यादित्याह —

णिज्जरियसव्वकम्मो जादिजरामरणबंधणविमुक्को ।
पावदि सुक्खमणंतं णिज्जरणं तं मणसि कुज्जा ।।७५१।।

ततो निर्जीर्णः सर्वकर्मनिर्मुक्तो जातिजरामरणबन्धनविमुक्तः प्राप्नोति सौख्यमतुलमनंतं, तन्निर्जरणं मनसि कृत्वा (कुर्यात्) विधायेति।।७५१।।

निर्जरानुप्रेक्षां व्याख्याय धर्मानुप्रेक्षास्वरूपं विवेचयन्नाह —

सव्वजगस्स हिदकरो धम्मो तित्थंकरेहिं अक्खादो ।
धण्णा तं पडिवण्णा विसुद्धमणसा जगे मणुया ।।७५२।।

सर्वस्य जगतो भव्यलोकस्य हितकरो धर्म उत्तमक्षमादिलक्षणस्तीर्थकरैराख्यातः प्रतिपादितस्तं धर्मं ये प्रतिपन्नास्तं धर्ममधिष्ठिता ये पुरुषा विशुद्धमनसा शुद्धभावेन ते धन्याः पुण्यवंतः कृतार्था जगतीति।।७५२।।

धर्मानुरागे कारणमाह —

जेणेह पाविदव्वं कल्लाणपरंपरं परमसोक्खं ।
सो जिणदेसिदधम्मं भावेणुववज्जदे पुरिसो ।।७५३।।

आचारवृत्ति — अनन्तकाल में संचित किया गया कर्म भी तपश्चरण द्वारा नष्ट हो जाता है, ऐसा जानकर निरन्तर अन्तरंग व बहिरंग तपश्चरण में आत्मा को लगाना चाहिये।

तप में आत्मा को लगाने से क्या होगा ? सो ही बताते हैं —

गाथार्थ — जिसके सर्व कर्म निर्जीर्ण हो चुके हैं ऐसा जीव जन्म-जरा-मरण के बन्धन से छूटकर अनन्त सुख को प्राप्त कर लेता है अतः मन में तुम उस निर्जरा का चिन्तवन करो।।७५१।।

आचारवृत्ति — तपश्चरण से समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाने पर जन्म, जरा और मरण के बन्धन से मुक्त होता हुआ यह जीव अतुल, अनन्त सौख्य को प्राप्त कर लेता है इसलिये मन में निर्जरा भावना को भाओ। यह निर्जरा अनुप्रेक्षा हुई।

निर्जरानुप्रेक्षा का व्याख्यान करके अब धर्मानुप्रेक्षा का विवेचन करते हैं —

गाथार्थ — तीर्थंकरों द्वारा कथित धर्म सर्व जगत् का हित करने वाला है। विशुद्ध मन से उसका आश्रय लेने वाले मनुष्य जगत् में धन्य हैं।।७५२।।

आचारवृत्ति — तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित क्षमा आदि उत्तम धर्म भव्य जीवों का हित करने वाला है। जिन पुरुषों ने ऐसे धर्म का विशुद्ध मन से अनुष्ठान किया है वे इस जगत् में धन्य हैं, पुण्यशाली हैं, वे कृतार्थ हो चुके हैं।

येनेह — येन जीवेनास्मिंल्लोके कल्याणपरंपरा मांगल्यनैरन्तर्यं परमसौख्यं प्राप्तव्यं स जीवो जिनदेशितं तीर्थकराख्यातं धर्मं भावेनोपपद्यते पुरुषः परमार्थतो धर्मं श्रद्दधाति सेवते — पापक्रियां मनागपि नाचरतीति।।७५३।।

[1]धर्मस्य विकल्पानाह —

खंतीमद्दवअज्जवलाघवतवसंजमो अकिंचणदा ।
तह होइ बंभचेरं सच्चं चाओ य दसधम्मा ।।७५४।।

क्षान्त्यार्जवमार्दवलाघव[2] तपःसंयमा आकिंचन्यं तथा ब्रह्मचर्यं सत्यं त्यागश्चैवं धर्मो दशविधो भवति ज्ञातव्य इति।।७५४।।

धर्मभावनाफलमाह —

उवसम दया य खंती वड्ढइ वेरग्गदा य जह जह से ।
तह तह य मोक्खसोक्खं अक्खीणं भावियं होइ ।।७५५।।

उपशय इन्द्रियनिग्रहे पुरुषव्यापारो, दयानुकंपा, क्षान्तिः क्रोधाद्यनुत्पत्तिरन्यकृतोपद्रवसहनं, एते विरागता च यथा यथा वर्धन्ते — वैराग्यकारणेन वृद्धिं गच्छन्ति यथा यथास्य जीवस्य तथा तथा तस्य जीवस्य मोक्षसौख्यमक्षरं भावितं भवतीति।।७५५।।

धर्मानुराग में कारण को कहते हैं —

गाथार्थ — जिसे इस जगत् में कल्याणों की परम्परा और परम सौख्य प्राप्त करना है वह पुरुष भाव से जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित धर्म को स्वीकार करता है।।७५३।।

आचारवृत्ति — जिस जीव को इस जगत् में निरन्तर ही मंगल और परम सुख प्राप्त करना है वह जीव भाव से तीर्थंकर द्वारा कथित धर्म को प्राप्त करता है अर्थात् परमार्थ रूप से उस धर्म का श्रद्धान करता है, उसका सेवन करता है और किंचित् मात्र भी पाप क्रिया का आचरण नहीं करता है, यह अभिप्राय है।

धर्म के भेदों को बताते हैं —

गाथार्थ — क्षमा, मार्दव, आर्जव, लाघव, तप, संयम, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग ये दस धर्म हैं।

आचारवृत्ति — टीका सरल है।

धर्मभावना का फल बताते हैं —

गाथार्थ — जैसे-जैसे इस जीव के उपशम, दया, क्षमा और वैराग्य बढ़ते हैं वैसे-वैसे ही अक्षय मोक्षसुख भावित होता है।।७५५।।

---

१. लिङ्गधर्मस्य क० २. लाघवं शौहाचारः (क० टि०)

धर्मानुप्रेक्षामपसंहर्तुकामः प्राह —

संसारविसमदुग्गे भवगहणे कह वि मे भमंतेण ।
दिट्ठो जिणवरदिट्ठो जेट्ठो धम्मोत्ति चिंतेज्जो ।।७५६।।

संसारविषमदुर्गे भवगहने भवैर्व्याकुले कथमपि भ्रमता पर्यटता मया जिनवरोपदिष्टो ज्येष्ठः प्रधानो धर्मो दृष्टः इत्येवं चिन्तयेदिति।।७५६।।

बोधिदुर्लभतास्वरूपमाह —

संसारह्मि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं ।
जुगसमिलासंजोगो लवणसमुद्दे जहा चेव ।।७५७।।

संसारेऽनंतेऽत्यन्तदीर्घे जीवानां दुर्लभं मनुष्यत्वं मनुष्यजन्म, यथा लवणसमुद्रे युगसमिलासंयोगः। पूर्वसमुद्रभागे युगं निक्षिप्तं, पश्चिमसमुद्रभागे समिला निक्षिप्ता, तस्याः समिलायाः युगविवरे यथा प्रवेशो दुर्लभस्तथा जीवस्य चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये मनुष्यत्वं दुर्लभमेवेति।।७५७।।

आचारवृत्ति — इन्द्रियों के निग्रह में पुरुष का व्यापार होना उपशम है। अनुकम्पा का नाम दया है, क्रोधादि की उत्पत्ति न होना और अन्यकृत उपद्रव सहन करना क्षमा है, संसार-शरीर-भोगों से उद्विग्न होना वैराग्य है। जिस जीव के ये सब वैराग्य के कारण जैसे-जैसे वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं वैसे-वैसे ही उसी जीव के अक्षय मोक्ष सुख की भावना होती रहती है।

धर्मानुप्रेक्षा का उपसंहार करते हुए कहते हैं —

गाथार्थ — संसारमय विषमदुर्ग इस भव वन में भ्रमण करते हुए मैंने बड़ी मुश्किल से जिनवर कथित प्रधान धर्म प्राप्त किया है — इस प्रकार से चिन्तवन करें।।७५६।।

आचारवृत्ति — यह संसार विषम दुर्ग के समान है, अनेकों भवों से अर्थात् पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करने से गहन है, व्याकुल है। ऐसे इस संसार में पर्यटन करते हुए बड़ी मुश्किल से मैंने जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट सर्व प्रधान इस धर्म को प्राप्त किया है, इस प्रकार से चिन्तवन करना चाहिये। यह धर्मानुप्रेक्षा हुई।

बोधिदुर्लभता का स्वरूप कहते हैं —

गाथार्थ — अनन्त संसार में जीवों को मनुष्य पर्याय दुर्लभ है। जैसे लवण समुद्र में युग अर्थात् जुवां और समिला अर्थात् सैल का संयोग दुर्लभ है।।७५७।।

आचारवृत्ति — अत्यन्त दीर्घ इस अनन्त संसार में जीवों को मनुष्य पर्याय का मिलना बहुत ही दुर्लभ है। जैसे कि लवण समुद्र में युग और समिला का संयोग अर्थात् जैसे लवण समुद्र के पूर्वभाग में जुवां को डाले और उसी समुद्र के पश्चिम भाग में सैल को

मनुष्यत्वे लब्धेऽपि यद्दुर्लभं तदाह —

देसकुलजम्म रूवं आऊ आरोग्ग वीरियं विणओ ।
सवणं गहणं मदि धारणा य एदे वि दुल्लहा लोए ।।७५८।।

मनुष्यत्वे लब्धेऽप्यतिदुर्लभ आर्यदेशः, मनुष्यत्वं यतो म्लेच्छखंडेषु भोगभूमावपि विद्यते। आर्यदेशे लब्धेऽपि दुर्लभं कुले जन्म, आर्यदेशे भिल्लवर्वरचांडालादिकुलानामपि संभवात्। विशुद्धकुले लब्धेऽप्यतीव दुर्लभं रूपमवयवसंपूर्णता, शुद्धकुलेऽपि यतो विकलांगदर्शनमिति। रूपे लब्ध्वाऽपि दुर्लभं सुष्ठु दीर्घायुश्चिरंजीवित्वं। चिरजीवनादप्यारोग्यं दुर्लभतमः। तस्मादपि श्रवणमार्यादिसंप्राप्तिः। तस्मादपि ग्रहणमवधारणं सुष्ठु न सुलभं। तस्मादपि पूर्वापरविवेकरूपता मतिः स्मरणादिकमतीव दुर्लभा। ततोऽपि धारणा कालान्तरेऽप्यविस्मरणत्वं दुर्लभा। मनुष्यत्वे लब्धेप्येते सर्वेऽपि क्रमेण दुर्लभा लोके जगतीति।।७५८।।

एतेभ्योऽपि दुर्लभतममाह —

लद्धेसु वि एदेसु य बोधी जिणसासणह्मि ण हु सुलहा ।
कुपहाणमाकुलत्ता जं बलिया रागदोसा य ।।७५९।।

डाले। पुनः उस सैल का जुवाँ के छिद्र में प्रवेश कर जाना जैसे कठिन है उसी प्रकार से चौरासी लाख योनियों के मध्य में इस जीव को मनुष्य जन्म का मिलना दुर्लभ ही है।

मनुष्य पर्याय के मिल जाने पर भी जो कुछ दुर्लभ है उसे बताते हैं —

गाथार्थ — उत्तम देश-कुल में जन्म, रूप, आयु, आरोग्य, शक्ति, विनय, धर्मश्रवण, ग्रहण, बुद्धि और धारणा ये भी इस लोक में दुर्लभ ही हैं।।७५८।।

आचारवृत्ति — मनुष्य पर्याय के मिलने पर भी आर्यदेश का मिलना अतीव दुर्लभ है क्योंकि मनुष्यपना तो म्लेच्छ खण्डों में और भोगभूमि में भी विद्यमान है। आर्यदेश में भील, बर्बर, चाण्डाल आदि कुलों में भी उत्पत्ति हो जाती है। विशुद्ध कुल के मिल जाने पर भी रूप अर्थात् शरीर के अवयवों की पूर्णता का होना अतीव दुर्लभ है क्योंकि शुद्ध कुल में भी विकलांग-हीनांग देखे जाते हैं। रूप के मिल जाने पर भी दीर्घायु का मिलना— चिरंजीवी होना अतिशय दुर्लभ है। चिरजीवन से भी आरोग्य-स्वस्थ शरीर का मिलना दुर्लभतर है। आरोग्य से भी शक्ति का मिलना दुर्लभतम है। शक्ति से भी विनय का मिलना अतीव दुर्लभतम है। उससे भी श्रवण अर्थात् आर्यपुरुष आदि की संगति का मिलना, उनका उपदेश सुनना अतीव दुर्लभ है। उपदेश सुनने के बाद भी उसको ग्रहण करना-मन में अवधारण करना सुलभ नहीं है। पूर्वापर विवेक रूप बुद्धि का होना, स्मरण शक्ति आदि का होना अतीव दुर्लभ है। कालान्तर में भी अविस्मरण रूप धारणा का होना उससे भी दुर्लभ

लब्धेष्वप्येतेषु मनुष्यादिषु बोधिः सम्यक्त्वं दर्शनविशुद्धिस्तत्कारणे च जिनशासने परमागमे नैव सुलभा न सुखेन लभ्यते। कुतः? कुपथानामाकुलत्वात् यतः कुत्सितमार्गैर्दुष्टाभिप्रायैराकुलोऽयं भ्रान्तोऽयं लोकः, यस्माच्च रागद्वेषौ बलवन्तौ, अथवा कुपथानामानकुलत्वहेतोर्बलिनौ रागद्वेषौ यत इति।।७५९।।

एवं बोधिदुर्लभत्वं[1] विज्ञाय तदर्थपरिणामं[2] कर्तुकामः प्राह —

सेयं भवभयमहणी बोधी[3] गुणवित्थडा मए लद्धा ।
जदि पडिदा ण हु सुलहा तम्हा ण खमो पमादो मे ।।७६०।।

सेयं बोधिर्भवभयमथनी संसारभीतिविनाशिनी गुणविस्तरा गुणैर्विस्तीर्णा सर्वगुणाधरा मया लब्धा प्राप्ता, यदि कदाचित्संसारसमुद्रे पतिता प्रभ्रष्टा न खलु नैव स्फुटं पुनः सुलभाऽर्द्धपुद्गलपरावर्त्तनमन्तरेण तस्मान्नैव[4] क्षमो नैव योग्यः प्रमादो मम — बोधिविषये प्रमादकरणं मम नैव युक्तमिति।।७६०।।

है अर्थात् मनुष्य पर्याय के मिल जाने के बाद भी इस जगत् में ये सभी क्रम-क्रम से दुर्लभ ही हैं, ऐसा समझना।

इनसे भी जो दुर्लभतम है उसे बताते हैं —

गाथार्थ — इनके मिल जाने पर भी जिनशासन में बोधि सुलभ नहीं है क्योंकि कुपथों की बहुलता है और राग-द्वेष भी बलवान् हैं।।७५९।।

आचारवृत्ति — उपर्युक्त आर्यदेश आदि के मिल जाने पर भी बोधि-सम्यक्त्व अर्थात् दर्शनविशुद्धि और उसके कारणों का मिलना परमागम में सुलभ नहीं है अर्थात् यह बोधि सुख से, सरलता से नहीं मिल सकती है। क्यों ? क्योंकि कुत्सित मार्गों से — दुष्ट अभिप्राय वाले जनों से यह लोक भ्रान्त हो रहा है और इसमें राग-द्वेष भी अतीव बलवान हैं अथवा कुपथों में व्याकुलता के हेतु ये बलवान राग-द्वेष हैं इसीलिए बोधि का मिलना दुर्लभ है।

इस प्रकार बोधिदुर्लभता को जानकर उसके लिये कैसे परिणाम मेरे होवें, इसे आचार्य कहते हैं —

गाथार्थ — सो यह भवभय का मंथन करने वाली, गुणों से विस्तार को प्राप्त बोधि मैंने प्राप्त कर ली है। यदि यह छूट जाए तो निश्चित रूप से पुनः सुलभ नहीं है अतः मेरा प्रमाद करना ठीक नहीं है।।७६०।।

आचारवृत्ति — सो यह सम्यग्दर्शन रूप बोधि संसार के भय का नाश करने वाली है, सर्व गुणों के लिये आधारभूत है। इसे मैंने प्राप्त कर ली है। यदि यह कदाचित् संसार-

१. बोधेर्दुल-क० २. तदर्थाय परि-क० ३. बोही क० ४. तस्मान्न क०

बोधिविषये यः प्रमादं करोति तं कुत्सयन्नाह —

दुल्लहलाहं लद्धू ण बोधिं[1] जो णरो पमादेज्जो ।
सो पुरिसो कापुरिसो सोयदि कुगदिं गदो संतो ।।७६१।।

दुर्लभलाभां बोधिं संसारक्षयकरणसमर्थां यो लब्ध्वा प्राप्य प्रमादयेत् प्रमादं कुर्यात्सः पुरुषः कापुरुषः कुत्सितः पुरुषः शोचति दुःखी भवति कुगतिं नरकादिगतिंगतस्सन्निति।।७६१।।

बोधिविकल्पं तत्फलं च प्रतिपादयन्नाह —

उवसमखयमिस्सं वा बोधिं लद्धू ण भवियपुंडरिओ ।
तवसंजमसंजुत्तो अक्खयसोक्खं तदो लहदि ।।७६२।।

क्षयोपशमविशुद्धिदेशनाप्रायोग्यलब्धीर्लब्ध्वा पश्चादधःप्रवृत्यपूर्वानिवृत्तिकरणान् कृत्वोपशमक्षयोपशमक्षयरूपां[2] बोधिं लभते जीवः। पूर्वसंचितकर्मणोऽनुभागस्पर्द्धकानि यदा विशुद्ध्या प्रतिसमयमनंतगुणहीनानि भूत्वोदीर्यन्ते तदा क्षयोपशमलब्धिर्भवति। प्रतिसमयमनंत-

समुद्र में गिर जाए तो पुनः अर्द्धपुद्गल परिवर्तन के बिना यह सुलभ नहीं है इसलिये बोधि के विषय में मेरा प्रमाद करना योग्य नहीं है — उचित नहीं है अर्थात् एक बार सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद यदि प्रमाद से वह छूट जाए तो पुनः अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल पर्यन्त यह जीव इस संसार में भ्रमण कर सकता है अतः सम्यक्त्व की रक्षा के लिये सावधान रहना चाहिये।

बोधि के विषय में जो प्रमाद करते हैं उनकी निन्दा करते हुए कहते हैं —

गाथार्थ — जो मनुष्य दुर्लभता से मिलने वाली बोधि को प्राप्त करके प्रमादी होता है वह पुरुष कायर पुरुष है। वह दुर्गति को प्राप्त होता हुआ शोच करता है।।७६१।।

आचारवृत्ति — संसार का क्षय करने में समर्थ ऐसी दुर्लभता से मिलने वाली बोधि को प्राप्त करके जो प्रमाद करता है वह पुरुष निन्द्य पुरुष है। वह नरक आदि गतियों को प्राप्त होकर दुःखी होता रहता है।

बोधि के भेद और उसका फल बताते हुए कहते हैं —

गाथार्थ — श्रेष्ठ भव्य जीव उपशम, क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करके जब तप और संयम से युक्त हो जाता है तब अक्षय सौख्य को प्राप्त कर लेता है।।७६२।।

आचारवृत्ति — क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि और प्रायोग्यलब्धि इन चार लब्धियों को प्राप्त करके यह जीव पुनः अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और

१. जो बोधिं क० २. क्षयसम्यक्त्वरूपां क०

गुणहीनक्रमेणोदीरितानुभाग-स्पर्द्धकजनितजीवपरिणामः सातादिसुखाकर्मबंधनिमित्तोऽ-पाताद्यसुखाकर्मबंधविरुद्धो विशुद्धिलब्धिर्नाम। षड्द्रव्यनवपदार्थोपदेशकर्त्राचार्याद्युप-लब्धिर्वोपदिष्टार्थग्रहणधारणविचारणशक्तिर्वा देशनालब्धिर्नाम। सर्वकर्मणामुत्कृष्ट-स्थितिमुत्कृष्टानुभागं च हत्वाऽन्तःकोट्यकोटीस्थितौ द्विस्थानानुभागस्थानं प्रायोग्यलब्धिर्नाम। तथोपरिस्थपरिणामैरधःस्थितपरिणामाः समाना अधःस्थित-परिणामैरुपरिस्थितपरिणामाः समाना भवन्ति यस्मिन्नवस्थाविशेषकालेऽधःप्रवर्त्तनादधः-प्रवृत्तिकरणः। अपूर्वापूर्वशुद्धयाराः करणाः परिणामा यस्मिन् कालविशेषे स्युरसावपूर्वकरणः परिणामः। एकसमयप्रवर्त्तमानानां जीवानां परिणामैर्न विद्यते निवृत्तिर्भेदो यत्र सोऽनिवृत्तिकरण इति। एवं क्रियां कृत्वाऽनंतानुबंधिक्रोधमान-मायालोभप्रकृतीनां सम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्व-मिथ्यात्वप्रकृतीनां चोपशमादुपशम-सम्यक्त्वबोधिर्भवति। तथा तासामेव सप्तप्रकृतीनां क्षयोपशमात् क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-

---

अनिवृत्तिकरण परिणामों को करके उपशम सम्यक्त्व, क्षयोपशम सम्यक्त्व अथवा क्षायिक सम्यक्त्व रूप बोधि को प्राप्त कर लेता है। सो ही स्पष्ट करते हैं—

१. जिस काल में पूर्वसंचित कर्म के अनुभागस्पर्धक परिणामविशुद्धि से प्रतिसमय अनन्तगुणित हीन होकर उदीरणा को प्राप्त होते हैं तब उस जीव के क्षयोपशमलब्धि होती है।

२. प्रतिसमय अनन्तगुणित हीन क्रम से उदीरणा को प्राप्त हुए अनुभागस्पर्धक से जीव के जो परिणाम होते हैं उनके निमित्त से साता आदि सुखदायी कर्मों का बन्ध होता है और असाता आदि दुःखदायी कर्मबन्ध का निरोध हो जाता है। इसका नाम विशुद्धिलब्धि है।

३. छह द्रव्य, नव पदार्थ का उपदेश करने वाले आचार्य आदि की उपलब्धि होना अथवा उनके द्वारा उपदिष्ट पदार्थों को ग्रहण करने, धारण करने और उनके विषय में विचार करने की शक्ति का होना देशनालब्धि है।

४. सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग को घटाकर उनका अन्तः कोटाकोटी सागर में स्थापन कर द्विस्थानरूप—(लता दारु रूप) अनुभाग स्थान करना प्रायोग्यलब्धि है।

५. पाँचवी करणलब्धि है। उसके तीन भेद हैं—अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

ऊपर में स्थित परिणामों से अधःस्थित परिणामों की समानता और अधःस्थित परिणामों से ऊपर स्थित परिणामों की समानता जिस अवस्था विशेष के समय होती है उस काल में अधःप्रवर्तन होने से अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं। जिस काल में अपूर्व-अपूर्व

बोधिर्भवति। तथा तासामेव सप्तानां प्रकृतीनां क्षयात् क्षायिकसम्यक्त्वं भवति। एवमतिदुर्लभतरां त्रिप्रकारां बोधिं लब्ध्वा भव्यपुण्डरीको भव्योत्तमस्तपसा संयमेन च युक्तोऽक्षयसौख्यं ततो लभते सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः सिद्धिमधितिष्ठतीति यतो बोध्यां सर्वोऽपि जीवः सिद्धिं लभते।।७६२।।

तम्हा अहमवि णिच्चं सद्धासंवेगविरियविणएहिं ।
अत्ताणं तह भावे जह सा बोही हवे सुइरं ।।७६३।।

यस्मादेवंविशिष्टा बोधिस्तस्मादहमपि नित्यं सर्वकालं श्रद्धा मानसिकः शासनानुरागः, संवेगो धर्मधर्मफलविषयादनुरागः वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितशक्तिः, विनयो मनोवाक्कायानामनुद्धतिर्नम्रता तैरात्मानं तथा भावयामि यथाऽसौ बोधिर्भवेत्सुचिरं सर्वकालमिति।।७६३।।

शुद्धतर करण—परिणाम होते हैं वह अपूर्वकरण परिणाम है। एक समय में प्रवृत्त हुए जीवों के परिणामों में भेद नहीं होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

इस प्रकार तीन करण रूप क्रिया करके अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियों तथा सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व इन तीन प्रकृतियों के—ऐसी सात प्रकृतियों के उपशम से उपशमसम्यक्त्व बोधि होती है। इन सातों प्रकृतियों के क्षयोपशम से क्षयोपशमसम्यक्त्व बोधि होती है तथा इन्हीं सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिकसम्यक्त्व लब्धि होती है।

इस तरह अति दुर्लभतर तीन प्रकार की बोधि को प्राप्त करके जो भव्योत्तम तपश्चरण और संयम से युक्त हो जाता है वह भव्य उस चारित्र के प्रसाद से अक्षय सौख्य प्राप्त कर लेता है अर्थात् वह जीव सर्वद्वन्द्व से रहित होकर सिद्धिपद को प्राप्त कर लेता है; क्योंकि बोधि से ही सभी जीव सिद्ध होते हैं, बिना बोधि के नहीं।

अब आचार्य अपनी भावना व्यक्त करते हैं—

गाथार्थ—इसलिये मैं भी श्रद्धा, संवेग, शक्ति और विनय के द्वारा उस प्रकार से आत्मा की भावना करता हूँ कि जिस प्रकार से वह बोधि चिरकाल तक बनी रहे।।७६३।।

आचारवृत्ति—जिस कारण से यह बोधि इतनी विशेष है उससे मैं भी सर्वकाल, मन के द्वारा होने वाली जिनशासन के अनुरागरूप श्रद्धा से धर्म और धर्मफल के विषय में अनुरागरूप संवेग से, वीर्यांतराय के क्षयोपशम से होने वाली शक्तिविशेषरूप वीर्य से और मन-वचन-काय की नम्रतारूप विनय से आत्मा की भावना उस प्रकार करता हूँ कि जिससे यह बोधि सर्वकाल तक बनी रहे।

किमर्थं बोधिर्भाव्यत इत्याशंकायामाह —

बोधीय जीवदव्वादियाइं बुज्झइ हु णव वि तच्चाइं ।
गुणसयसहस्सकलियं एवं बोहिं सया झाहि ।।७६४।।

यतो बोधिमवाप्य जीवाजीवास्रवपुण्यपापबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः पदार्था द्रव्याणि अस्तिकायाश्च तत्त्वानि च बुध्यंते बोध्या वा बुध्यंते ततो गुणशतसहस्र[1] कलितामेवंभूतां बोधिं सदा सर्वकालं ध्याय भावयेति।।७६४।।

द्वादशानुप्रेक्षामुपसंहर्त्तुकामः प्राह —

दस दो य भावणाओ एवं संखेवदो समुद्दिट्ठा ।
जिणवयणे दिट्ठाओ बुहजणवेरग्ग[2] जणणीओ ।।७६५।।

एवं दश द्वे चानुप्रेक्षा भावनाः संक्षेपतः समुपदिष्टाः प्रतिपादिता जिनवचने यतो दृष्टा नान्यत्रानेन प्रामाण्यं ख्यापितं तासां स्यात्, बुधजनानां वैराग्यस्य जनन्यो वैराग्यकारिण्योऽनेन रागाभावश्च ख्यापितः श्रुतस्य भवतीति।।७६५।।

किसलिए बोधि की भावना करनी ? सो ही बताते हैं —

गाथार्थ — बोधि से जीव, पुद्गल आदि छह द्रव्य तथा जीव, अजीव आदि नव तत्त्व (पदार्थ) जाने जाते हैं। इस तरह हजारों गुणों से सहित बोधि का सदा ध्यान करो।।७६४।।

आचारवृत्ति — जिस कारण से बोधि को प्राप्त करके जीव, अजीव, आस्रव, पुण्य, पाप, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नव पदार्थ; जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य; जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय तथा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व जाने जाते हैं, इसी हेतु लाखों गुणों से युक्त इस प्रकार की बोधि की तुम सर्वकाल भावना करो — चिन्तवन करो। यह बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा हुई।

द्वादशानुप्रेक्षा का उपसंहार करते हुए कहते हैं —

गाथार्थ — इस प्रकार संक्षेप में द्वादश भावना कही गयी हैं जो कि जिनवचन में विद्वानों के वैराग्य की जननी मानी गई हैं।।७६५।।

आचारवृत्ति — इस तरह ये बारह भावनायें संक्षेप में जिनागम में प्रतिपादित की गयी हैं अर्थात् ये जैनशासन में ही देखी जाती हैं, अन्यत्र (अन्य सम्प्रदाय में) नहीं हैं। इस कथन से इनकी प्रमाणता बतायी गयी है। ये भावनाएँ बुधजनों में वैराग्य को उत्पन्न करने

१. मानसः क० २. शतसहस्रैः कलितां युक्ता क० ३. बुधजन-वैराग्य क०

अनुप्रेक्षाभावने कारणमाह —

अणुवेक्खाहिं एवं जो अत्ताणं सदा विभावेदि ।
सो विगदसव्वकम्मो विमलो विमलालयं लहदि ।।७६६।।

एवमनुप्रेक्षाभिरात्मानं यः सदा भावयेद्योजयेत्सः पुरुषो विगतसर्वकर्मा विमलो भूत्वा विमलालयं मोक्षस्थानं लभते प्राप्नोतीति।।७६६।।

द्वादशानुप्रेक्षावसाने कृतकृत्य आचार्यः परिणामशुद्धिमभिदधन्मंगलं फलं वा वाञ्छँश्चाह —

झाणेहिं खवियकम्मा मोक्खग्गलमोडया विगयमोहा ।
ते मे तमरयमहणा तारंतु भवाहि लहुमेव ।।७६७।।

य इमा अनुप्रेक्षा भावयित्वा सिद्धिं गतास्ते ध्यानैः क्षपितकर्माणो मोक्षार्गलच्छेदका विगत-चारित्रमोहास्तमोरजोमथना मिथ्यात्वमोहनीयज्ञानावरणादिविनाशकास्तारयन्तु भवात्संसाराच्छीघ्रमेवास्मानिति।।७६७।।

वाली होने से वैराग्य की जननी मानी गयी हैं। इस कथन से श्रुत — जिनागम में, रागाभाव ही ख्यापित किया गया है, ऐसा समझना।

अनुप्रेक्षा की भावना करने में कारण बताते हैं —

गाथार्थ — इन अनुप्रेक्षाओं के द्वारा जो हमेशा आत्मा की भावना करता है वह सर्व कर्म से रहित निर्मल होता हुआ विमलस्थान को प्राप्त कर लेता है।।७६६।।

आचारवृत्ति — इन अनुप्रेक्षाओं के द्वारा जो पुरुष अपनी आत्मा का चिन्तवन करता है वह सर्व कर्मों से रहित निर्मल होकर मोक्षस्थान प्राप्त कर लेता है।

द्वादश अनुप्रेक्षा के अन्त में कृतकृत्य हुए आचार्य परिणामशुद्धि को धारण करते हुए मंगल व फल की चाह करते हैं —

गाथार्थ — जो ध्यान से कर्म का क्षय करने वाले हैं, मोक्ष की अर्गला के खोलने वाले हैं, मोहरहित हैं, तम और रज का मंथन करने वाले हैं, वे जिनेन्द्रदेव हमें संसार से शीघ्र ही पार करें।

आचारवृत्ति — जो इन अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करके सिद्धि को प्राप्त हुए हैं वे ध्यान से कर्मों का क्षपण करने वाले हैं, मोक्ष के कपाट की अर्गला — सांकल के खोलने वाले हैं, चारित्र मोह से रहित हो चुके हैं, तम — मिथ्यात्व, मोहनीय, रज — ज्ञानावरण आदि कर्म का विनाश करने वाले हैं। वे महापुरुष इस संसार सागर से हमें शीघ्र ही तारें।

पुनरप्यनुप्रेक्षां याचमानः प्राह—

जह मज्झ तह्मि काले विमला अणुपेहणा भवेजण्हू ।
तह सव्वलोगणाहा विमलगदिगदा पसीदंतु ।।७६८।।

यथा येन प्रकारेण मम तस्मिन्नंतकाले विमला अनुप्रेक्षा द्वादशप्रकारा भवेयुस्तथा ते सर्वलोकनाथा विमलगतिं गताः प्रसीदन्तु प्रसन्ना भवन्तु द्वादशानुप्रेक्षाभावनां मम दिशन्त्विति।।७६८।।

इति श्रीमद्वट्टकेराचार्यवर्यविनिर्मितमूलाचारे वसुनन्द्याचार्यप्रणीतटीकासहिते द्वादशानुप्रेक्षकनामाऽष्टमः परिच्छेदः समाप्तः।

पुनरपि अनुप्रेक्षा की याचना करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जिस तरह अन्तकाल में ये विमल अनुप्रेक्षाएँ मुझे होवें उसी तरह विमल गति को प्राप्त हुए सर्वलोक के नाथ मुझ पर प्रसन्न होवें।।७६८।।

आचारवृत्ति—जिस प्रकार से मेरे अन्तकाल में ये निर्मल अनुप्रेक्षायें मुझे प्राप्त होवें उसी प्रकार से विमल स्थान को प्राप्त हुए तीन लोक के नाथ मुझ पर प्रसन्न होवें अर्थात् द्वादश अनुप्रेक्षा की भावना मुझे प्रदान करें अर्थात् जिनेन्द्रदेव के प्रसाद से ये अनुप्रेक्षायें मुझे प्राप्त हों।

इस प्रकार वसुनन्दि आचार्य प्रणीत टीका सहित श्री कुंदकुंददेव अपरनाम वट्टकेराचार्य विनिर्मित्त मूलाचार में द्वादश अनुप्रेक्षा कथन नामक आठवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।

द्वादश भावना

(श्री शुभचंद्राचार्यकृत ज्ञानार्णव ग्रंथ से)

आगे इस प्राणी को ध्यान के सन्मुख करने के लिये संसार, देह, भोगादि से वैराग्य उत्पन्न कराना है, सो वैराग्योत्पत्ति के लिये एकमात्र कारण बारह भावना है; इस कारण इनका व्याख्यान इस अध्याय में किया जायेगा। सो प्रथम ही इनके भावने की (बारम्बार चिन्तवन करने की) प्रेरणा करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम्—

सङ्गैः किं न विषाद्यते वपुरिदं किं छिद्यते नामयैः
मृत्युः किं न विजृम्भते प्रतिदिनं द्रुह्यन्ति किं नापदः ।
श्वभ्राः किं न भयानकाः स्वपनवद्भोगा न किं वञ्चकाः
येन स्वार्थमपास्य किन्नरपुरप्राख्ये भवे ते स्पृहा ।।१।।

अर्थ—हे आत्मन्! इस संसार में संग कहिये धन-धान्य, स्त्री-कुटुम्बादिक के मिलापरूप जो परिग्रह हैं, वे क्या तुझे विषादरूप नहीं करते? तथा यह शरीर है, सो रोगों के द्वारा छिन्न रूप व पीड़ित नहीं किया जाता? तथा मृत्यु क्या तुझे प्रतिदिन ग्रसने के लिये मुख नहीं फाड़ती? और आपदायें क्या तुझसे द्रोह नहीं करतीं? क्या तुझे नरक भयानक नहीं दीखते? और ये भोग हैं सो क्या स्वप्न के समान तुझे ठगने वाले (धोखा देने वाले) नहीं हैं? जिससे कि तेरे इन्द्रजाल से रचे हुए किन्नरपुर के समान इस असार संसार में इच्छा बनी हुई है?

भावार्थ—संसार, देह, भोगों को उक्त प्रकार के जानकर भी जो जीव अपने प्रयोजन में सावधान नहीं होते, उनका अज्ञानपना स्पष्ट है ।।१।।

आगे इस जीव की भूल कहते हैं—

अनुष्टुप—**नासादयसि कल्याणं न त्वं तत्त्वं समीक्षसे ।**
न वेत्सि जन्मवैचित्र्यं भ्रातर्भूतैर्विडम्बितः ।।२।।

अर्थ—हे भाई! तू भूत अर्थात् इन्द्रियों के विषयों से विडम्बनारूप होकर अपने कल्याण में नहीं लगता है और तत्वों का (वस्तुस्वरूप का) विचार नहीं करता है तथा संसार की विचित्रता को नहीं जानता है; सो यह तेरी बड़ी भूल है ।।२।।

असद्विद्याविनोदेन मात्मानं मूढ़ वञ्चय ।
कुरु कृत्यं न किं वेत्सि विश्ववृत्तं विनश्वरम् ।।३।।

अर्थ—हे मूढ़ प्राणी! अनेक असत् कला, चतुराई, श्रृंगार, शास्त्रादि असद्विद्याओं के कौतूहलों से अपनी आत्मा को मत ठग और तेरे करने योग्य जो कुछ हित कार्य हो उसे कर क्योंकि जगत के ये समस्त प्रवर्तन विनाशीक हैं। क्या तू ये बातें नहीं जानता है ?।।३।।

सामत्वं भज भूतेषु निर्ममत्वं विचिन्तय ।
अपाकृत्य मनःशल्यं भावशुद्धिं समाश्रय ।।४।।

अर्थ—हे आत्मन्! तू समस्त जीवों को एक सा जान। ममत्व को छोड़कर निर्ममत्व का चिंतवन कर। मन के शल्य को दूर कर अर्थात् किसी प्रकार का शल्य (क्लेश) अपने चित्त में न रखकर अपने भावों की शुद्धता को अंगीकार कर ।।४।।

आगे बारह भावनाओं के अंगीकार करने का उपदेश करते हैं—

चिनु चित्ते भृशं भव्य भावना भावशुद्धये ।
याः सिद्धान्तमहातन्त्रे देवदेवैः प्रतिष्ठिताः ।।५।।

अर्थ—हे भव्य! तू अपने भावों की शुद्धि के अर्थ अपने चित्त में बारह भावनाओं का चिंतवन कर, जिन्हें देवाधिदेव श्रीतीर्थंकर भगवान ने सिद्धान्त के प्रबन्ध में प्रतिष्ठित की हैं ।।५।।

ये भावनायें कैसी हैं, सो कहते हैं—

ताश्च संवेगवैराग्य-यमप्रशमसिद्धये ।
आलानिता मनःस्तम्भे मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ।।६।।

अर्थ—उन भावनाओं को मोक्षालिभाषी मुनियों ने अपने में संवेग (धर्मानुराग), वैराग्य (संसार से उदासीनता), यम (महाव्रतादि चारित्र) और प्रशम की (कषायों के अभावरूप शान्त भावों की) सिद्धि के लिये अपने चित्तरूपी स्तम्भ में आलानित कहिये ठहराई व बाँधी हैं।

भावार्थ—मुनिगण निरन्तर ही इनका चिन्तवन किया करते हैं ।।६।।

अनित्याद्याः प्रशस्यन्ते द्वादशैता मुमुक्षुभिः ।
या मुक्तिसौधसोपानराजयोऽत्यन्तबन्धुराः ।।७।।

अर्थ—ये भावना अनित्य आदि द्वादश[१] हैं। इनको मोक्षाभिलाषी मुनिगणों ने प्रशंसारूप कही हैं क्योंकि ये सब भावनायें मोक्षरूपी महल के चढ़ने की अति उत्तम पैड़ियों की (सीढ़ियों की) पंक्ति के समान हैं ।।७।।

१. अनित्य १, अशरण २, संसार ३, एकत्व ४, अन्यत्व ५, अशुचि ६, आस्रव ७, संवर ८, निर्जरा ९, लोक १०, धर्म ११, बोधिदुर्लभ १२, ये बारह हैं।

अथ अनित्यभावना लिख्यते

आगे इन भावनाओं का भिन्न-भिन्न व्याख्यान करेंगे जिनमें से प्रथम अनित्य भावना का वर्णन करते हैं—

हृषीकार्थसमुत्पन्ने प्रातिक्षणविनश्वरे ।
सुखे कृत्वा रतिं मूढ़ विनष्टं भुवनत्रयं ।।८।।

अर्थ—हे मूढ़! क्षण में नाश होने वाले इन्द्रियजनित सुख में प्रीति करके ये तीनों भुवन नाश को प्राप्त हो रहे हैं, सो तू क्यों नहीं देखता ? ।।८।।

भवाब्धिप्रभवाः सर्वे सम्बन्धा विपदास्पदम् ।
सम्भवन्ति मनुष्याणां तथान्ते सुष्ठु नीरसाः ।।९।।

अर्थ—इस संसार रूपी समुद्र में भ्रमण करने से मनुष्यों के जितने सम्बन्ध होते हैं, वे सब ही आपदाओं के घर हैं क्योंकि अन्त में प्रायः सब ही सम्बन्ध नीरस (दुःखदायक) हो जाते हैं। यह प्राणी उनसे सुख मानता है, सो भ्रम मात्र है ।।९।।

वपुर्विद्धि रुजाक्रान्तं जराक्रान्तं च यौवनम् ।
ऐश्वर्यं च विनाशान्तं मरणान्तं च जीवितम् ।।१०।।

अर्थ—हे आत्मन्! शरीर को तू रोगों से घिरा हुआ समझ और यौवन को बुढ़ापे से घिरा हुआ जान तथा ऐश्वर्य सम्पदाओं को विनाशीक और जीवन को मरणान्त जान।

भावार्थ—ये सब पदार्थ प्रतिपक्ष सहित जानने चाहिये ।।१०।।

ये दृष्टिपथमायाताः पदार्थाः पुण्यमूर्त्तयः ।
पूर्वाह्ण न च मध्याह्ने ते प्रयान्तीह देहिनाम् ।।११।।

अर्थ—इस संसार में जिनके यहाँ पुण्य के मूर्तिस्वरूप उत्तमोत्तम पदार्थ प्रभात के समय दृष्टिगोचर होते थे वे मध्याह्नकाल में देखने में नहीं आते अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। आत्मन्! तू विचारपूर्वक देख ।।११।।

यज्जन्मनि सुखं मूढ़! यच्च दुःखं पुरःस्थितम् ।
तयोर्दुःखमनन्तं स्यात्तुलायां कल्प्यमानयोः ।।१२।।

अर्थ—हे मूढ़ प्राणी! इस संसार में तेरे सन्मुख जो कुछ सुख व दुःख है, उन दोनों को ज्ञानरूपी तुला में (तराजू में) चढ़ा कर तोलेगा तो सुख से दुःख ही अनन्तगुणा दीख पड़ेगा क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है ।।१२।।

आगे भोगों का निषेध करते हैं—

भोगा भुजङ्गभोगाभाः सद्यः प्राणापहारिणः ।
सेव्यमानाः प्रजायन्ते संसारे त्रिदशैरपि ।।१३।।

अर्थ—इस संसार में भोग सर्प के फण के समान हैं क्योंकि इनको सेवन करते हुए देव भी शीघ्र प्राणान्त हो जाते हैं।

भावार्थ—देव भी भोगों के भोगने से मरकर एकेन्द्रिय हो जाते हैं अतः मनुष्य तो नरकादिक में अवश्य ही जावेंगे ।।१३।।

आगे इस जीव की अज्ञानता दिखाते हैं—

वस्तुजातमिदं मूढ प्रतिक्षणविनश्वरम् ।
जानन्नपि न जानासि ग्रहः कोऽयमनौषधः ।।१४।।

अर्थ—हे मूढ़ प्राणी! यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि इस संसार में जो वस्तुओं का समूह है सो पर्यायों से क्षण-क्षण में नाश होने वाला है। इस बात को तू जान कर भी अनजान हो रहा है, यह तेरा क्या आग्रह (हठ) है ? क्या तुझ पर कोई पिशाच चढ़ गया है जिसकी औषधि ही नहीं है ? ।।१४।।

आगे अन्य प्रकार से कहते हैं—

क्षणिकत्वं वदन्त्यार्या घटीघातेन भूभृताम् ।
क्रियतामात्मनः श्रेयो गतेयं नागमिष्यति ।।१५।।

अर्थ—इस लोक में राजाओं के यहाँ जो घड़ी का घण्टा बजता है और शब्द करता है सो सबके क्षणिकपने को प्रकट करता है अर्थात् जगत् को मानो पुकार-पुकार कर कहता है कि हे जगत् के जीवों! जो कुछ अपना कल्याण करना चाहते हो सो शीघ्र ही कर डालो, नहीं तो पछताओगे क्योंकि यह जो घड़ी बीत गयी वह किसी प्रकार भी पुनर्वार लौट कर नहीं आयेगी। इसी प्रकार अगली घड़ी भी यदि व्यर्थ ही खो दोगे तो वह भी गई हुई नहीं लौटेगी ।।१५।।

यद्यपूर्वं शरीरं स्याद्यदि वात्यन्ताशाश्वतम् ।
युज्यते हि तदा कर्तुमस्यार्थे कर्म निन्दितम् ।।१६।।

अर्थ—हे प्राणी! यदि यह शरीर अपूर्व हो अर्थात् पूर्व में कभी तूने नहीं पाया हो अथवा अत्यन्त अविनश्वर हो तब तो इसके अर्थ निंद्यकार्य करना योग्य भी है परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि यह शरीर तूने अनन्त बार धारण किया है और छोड़ा भी है, तो फिर ऐसे शरीर के अर्थ निन्द्य कार्य करना कदापि उचित नहीं है। इस कारण ऐसे कार्य कर जिससे कि तेरा वास्तव में कल्याण हो ।।१६।।

आगे फिर भी इसी अर्थ को सूचित करते हुए कहते हैं—

अवश्यं यान्ति यास्यन्ति पुत्रस्त्रीधनबान्धवाः ।
शरीराणि तदेतेषां कृते किं खिद्यते वृथा ।।१७।।

अर्थ—पुत्र, स्त्री, बाँधव, धन, शरीर आदि चले जाते हैं और जो हैं वह भी अवश्य ही चले जायेंगे। फिर इनके कार्यसाधन के लिये यह जीव वृथा ही क्यों खेद करता है ? ।।१७।।

नायाता नैव यास्यन्ति केनापि सह योषितः ।
तथाप्यज्ञाः कृते तासां प्रविशन्ति रसातलम् ।।१८।।

अर्थ—इस संसार में स्त्रियाँ न तो किसी के साथ आई हैं और न ही किसी के साथ जायेंगी तथापि मूढ़जन इनके लिये निन्द्य कार्य करके नरकादि में प्रवेश करते हैं। यह बड़ा अज्ञान है ।।१८।।

आगे बन्धुजन कैसे हैं, सो कहते हैं—

ये जाता रिपवः पूर्वं जन्मन्यस्मिन्विधेर्वशात् ।
त एव तव वर्त्तन्ते बान्धवा बद्धसौहृदः ।।१९।।

अर्थ—हे आत्मन्! जो पूर्व जन्म में तेरे शत्रु थे वे ही इस जन्म में तेरे अति स्नेही होकर बन्धु हो गये हैं अर्थात् तू इनको हितू व मित्र समझता है परन्तु ये तेरे हितू मित्र नहीं हैं अपितु पूर्वजन्म के शत्रु हैं ।।१९।।

रिपुत्वेन समापन्नाः प्राक्तनास्तेऽत्र जन्मनि ।
बान्धवाः क्रोधरुद्धाक्षा दृश्यन्ते हन्तुमुद्यताः ।।२०।।

अर्थ—और जो पूर्व जन्म में तेरे बांधव थे वे ही इस जन्म में शत्रुता को प्राप्त होकर तथा क्रोधयुक्त लाल नेत्र करके तुझे मारने के लिये उद्यत हुए हैं। यह प्रत्यक्ष में देखा जाता है ।।२०।।

आगे इस प्राणी को अन्धवत् बताते हैं—

अङ्गनादिमहापाशैरतिगाढं नियन्त्रिताः ।
पतंत्यन्धमहाकूपे भवाख्ये भविनोऽध्वगाः ।।२१।।

अर्थ—इस संसार में निरन्तर फिरने वाले प्राणीरूपी पथिक स्त्री आदि के बड़े-बड़े रस्सों से अतिशय कसे हुए संसार नामक महान्ध कूप में गिरते हैं।

भावार्थ—जैसे अन्धे पुरुष मार्ग में चलते-चलते अन्ध कूप में गिर पड़ते हैं उसी प्रकार ये जीव सूझते हुए भी अन्ध पुरुष के समान संसाररूपी कूप में गिरते हैं ।।२१।।

आगे फिर उपदेश करते हैं—

पातयन्ति भवावर्त्ते ये त्वां ते नैव बान्धवाः ।
बन्धुतां ते करिष्यन्ति हितमुद्दिश्य योगिनः ।।२२।।

अर्थ—हे आत्मन्! जो तुझे इस संसार के चक्र में डालते हैं वे तेरे बांधव

(हितैषी) नहीं हैं किन्तु जो मुनिगण (गुरु महाराज) तेरे हित की वांछा करके बंधुता करते हैं अर्थात् हित का उपदेश करते हैं, स्वर्ग तथा मोक्ष का मार्ग बताते हैं वे ही वास्तव में तेरे सच्चे और परम मित्र हैं ।।२२।।

आगे आश्चर्यपूर्वक कहते हैं—

शरीरं शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधीः ।
मोहः स्फुरति नात्मार्थः पश्य वृत्तं शरीरिणाम् ।।२३।।

अर्थ—देखो! इन जीवों का प्रवर्त्तन कैसा आश्चर्यकारक है कि शरीर तो प्रतिदिन छीजता जाता है और आशा नहीं छीजती है; किन्तु बढ़ती जाती है तथा आयुर्बल तो घटता जाता है और पाप कार्यों में बुद्धि बढ़ती जाती है। मोह तो नित्य स्फुरायमान होता है और यह प्राणी अपने हित व कल्याण मार्ग में नहीं लगता है। सो यह कैसा अज्ञान का माहात्म्य है! ।।२३।।

आगे उपदेश करते हैं—

यास्यन्ति निर्दया नूनं यद्दत्वा दाहमूर्जितम् ।
हृदि पुंसां कथं ते स्युस्तव प्रीत्यै परिग्रहाः ।।२४।।

अर्थ—हे आत्मन्! ये परिग्रह पुरुषों के हृदय में अतिशय दाह अर्थात् सन्ताप देकर अवश्य ही चले जाते हैं। ऐसे ये परिग्रह तेरी प्रीति करने योग्य कैसे हो सकते हैं ?

भावार्थ—तू वृथा ही इन धन-धान्यादि परिग्रहों से प्रीति मत कर; क्योंकि ये किसी प्रकार भी नहीं रहेंगे ।।२४।।

आगे अज्ञान के कारण नरकादिक दुःख सहेगा, ऐसा कहते हैं—

अविद्यारागदुर्वारप्रसारान्धीकृतात्मनाम् ।
श्वभ्रादौ देहिनां नूनं सोढव्या सुचिरं व्यथा ।।२५।।

अर्थ—मिथ्याज्ञानजनित रागों के दुर्निवार विस्तार से अन्धे किये हुए जीवों को अवश्य ही नरकादि में बहुत कालपर्यन्त दुःख सहने पड़ेंगे, जिसका जीवों को चेत ही नहीं है ।।२५।।

आगे जो लोग विषयों में सुख ढूँढते हैं, वे क्या करते हैं, सो कहते हैं—

वह्निं विशति शीतार्थं जीवितार्थं पिबेद्विषम् ।
विषयेष्वपि यः सौख्यामन्वेषयति मुग्धधीः ।।२६।।

अर्थ—जो मूढ़धी पञ्चेन्द्रियों के विषयसेवन में सुख ढूँढते हैं वे मानो शीतलता के लिए अग्नि में प्रवेश करते हैं और दीर्घ जीवन के लिये विषपान करते हैं। उन्हें इस विपरीत बुद्धि से सुख के स्थान में दुःख ही होगा ।।२६।।

कृते येषां त्वया कर्म कृतं श्वभ्रादिसाधकम् ।
त्वामेव यान्ति ते पापा वञ्चयित्वा यथायथम् ।।२७।।

अर्थ—हे आत्मन्! जिन कुटुम्बादिक के लिये तूने नरकादिक के दुःख देने वाले पापकर्म किये वे पापी तुझे अवश्य ही धोखा देकर अपनी-अपनी गति को चले जाते हैं। उनके लिये तूने जो पापकर्म किये थे उनके फल तुझे अकेले ही भोगने पड़ते हैं अथवा भोगने पड़ेंगे ।।२७।।

आगे इस जीव को करने योग्य कार्य का उपदेश देते हैं—

अनेन नृशरीरेण यल्लोकद्वयशुद्धिदम् ।
विवेच्य तदनुष्टेयं हेयं कर्म ततोऽन्यथा ।।२८।।

अर्थ—इस प्राणी को चाहिये कि इस मनुष्य देह से उभय लोक में शुद्धता को देने वाले कार्य का विचार करके अनुष्ठान करे और उससे भिन्न अन्य सब कार्य छोड़ दे। यह सामान्यतया उपदेश है ।।२८।।

आगे कहते हैं कि जो जीव उक्त प्रकार से नहीं करते, वे क्या करते हैं—

वर्द्धयन्ति स्वघाताया ते नूनं विषपादपम् ।
नरत्वेऽपि न कुर्वन्ति ये विवेच्यात्मनो हितम् ।।२९।।

अर्थ—जिसमें समस्त प्रकार के विचार करने की सामर्थ्य है तथा जिसका पाना दुर्लभ है ऐसे मनुष्य जन्म को पाकर भी जो अपना हित नहीं करते, वे अपना घात करने के लिये विषवृक्ष को बढ़ाते हैं।

भावार्थ—पाप कार्य विष के वृक्ष के समान है इस कारण इसका फल भी मारने वाला है ।।२९।।

आगे प्राणी किस कुल में आकर कैसे जन्म लेते हैं, सो दृष्टान्तपूर्वक वर्णन करके दिखाते हैं—

यद्वद्देशान्तरादेत्य वसन्ति विहगा नगे ।
तथा जन्मान्तरान्मूढ प्राणिनः कुलपादपे ।।३०।।

अर्थ—जैसे पक्षी नाना देशों से आकर संध्या के समय वृक्षों पर बसते हैं वैसे ही ये प्राणीजन अन्यान्य जन्मों से आ-आकर कुलरूपी वृक्षों पर बसते हैं अर्थात् जन्म लेते हैं ।।३०।। और—

प्रातस्तरुं परित्यज्य यथैते यान्ति पत्रिणः ।
स्वकर्मवशगाः शश्वत्तथैते क्वापि देहिनः ।।३१।।

अर्थ—जिस प्रकार वे पक्षी प्रभात के समय उस वृक्ष को छोड़कर अपना-अपना

रास्ता लेते हैं उसी प्रकार ये प्राणी भी आयु पूर्ण होने पर अपने-अपने कर्मानुसार अपनी-अपनी गति में चले जाते हैं ।।३१।।

फिर अन्य प्रकार से कहते हैं—

गीयते यत्र सानन्दं पूर्वाह्णे ललितं गृहे ।
तस्मिन्नेव हि मध्याह्ने सदुःखमिह रुद्यते ।।३२।।

अर्थ—जिस घर में प्रभात के समय आनन्दोत्साह के साथ सुन्दर-सुन्दर मांगलिक गीत गाये जाते हैं, मध्याह्न के समय उसी घर में दुःख के साथ रोना सुना जाता है ।।३२।।

तथा—

यस्य राज्याभिषेकश्रीः प्रत्यूषेऽत्र विलोक्यते ।
तस्मिन्नहनि तस्यैव चिताधूमश्च दृश्यते ।।३३।।

अर्थ—प्रभात के समय जिसके राज्याभिषेक की शोभा देखी जाती है, उसी दिन उस राजा की चिता का धुआँ देखने में आता है, यही इस संसार की विचित्रता है ।।३३।।

अब जीवों के शरीर की अवस्था कहते हैं—

अत्र जन्मनि निर्वृत्तं यैः शरीरं तवाणुभिः ।
प्राक्तनान्यत्र तैरेव खण्डितानि सहस्त्रशः ।।३४।।

अर्थ—हे आत्मन्! इस संसार में जिन परमाणुओं से तेरा यह शरीर रचा गया है उन्हीं परमाणुओं ने इस शरीर से पहले तेरे हजारों शरीर खण्ड-खण्ड किये हैं।

भावार्थ—पुराने परमाणु तो इस शरीर में से खिरते हैं और नये परमाणु स्थानापन्न होते जाते हैं। इस कारण वे ही परमाणु तो शरीर को रचते हैं और वे ही बिगाड़ने वाले हैं। शरीर की यह दशा है ।।३४।।

शरीरत्वं न ये प्राप्ता आहारत्वं न येऽणवः ।
भ्रमतस्ते चिरं भ्रातर्यन्न ते सन्ति तद्गृहे ।।३५।।

अर्थ—हे भाई! तेरे इस संसार में बहुत काल से भ्रमण करते हुए जो परमाणु शरीरता को तथा आहारता को प्राप्त नहीं हुए, ऐसे बचे हुए परमाणु कोई भी नहीं हैं।

भावार्थ—इस शरीर में ऐसे परमाणु नहीं हैं जो पहले अनन्त परावर्तन में शरीररूप या आहाररूप से ग्रहण करने में नहीं आए हों ।।३५।।

अब ऐश्वर्यादिक की अनित्यता दिखाते हैं—

सुरोरगनरैश्वर्यं शक्रकार्मुकसन्निभम् ।
सद्यः प्रध्वंसमायाति दृश्यमानमपि स्वयम् ।।३६।।

अर्थ—इस जगत में जो सुर (कल्पवासी देव), उरग (भवनवासी देव) और

मनुष्यों के इन्द्र अर्थात् चक्रवर्तीपने के ऐश्वर्य (वैभव) हैं, वे सब इन्द्रधनुष के समान हैं अर्थात् देखने में अति सुन्दर दीख पड़ते हैं परन्तु देखते-देखते विलय हो जाते हैं ।।३६।।

फिर अन्य प्रकार दृष्टान्त से कहते हैं—

यान्त्येव न निवर्त्तन्ते सरितां यद्वदूर्मयः ।
तथा शरीरिणां पूर्वा गता नायान्ति भूतयः ।।३७।।

अर्थ—जिस प्रकार नदी की जो लहरें जाती हैं, वे फिर लौटकर कभी नहीं आती हैं इसी प्रकार जीवों की जो विभूति पहले होती है वह नष्ट होने के पश्चात् फिर लौटकर नहीं आती। यह प्राणी वृथा ही हर्ष-विषाद करता है ।।३७।।

आगे फिर इसी अर्थ को सूचित करते हैं—

क्वचित्सरित्तरङ्गाली गतापि विनिवर्त्तते ।
न रूपबललावण्यं सौन्दर्यं तु गतं नृणाम् ।।३८।।

अर्थ—नदी की लहरें कदाचित् कहीं लौट भी आती हैं परन्तु मनुष्यों का गया हुआ रूप, बल, लावण्य और सौन्दर्य फिर नहीं आता। यह प्राणी वृथा ही उनकी आशा लगाए रहता है ।।३८।।

आगे फिर भी आयु और यौवन की व्यवस्था का दृष्टान्त देते हैं—

गलत्येवायुरव्यग्रं हस्तन्यस्ताम्बुवत्क्षणे ।
नलिनीदलसंक्रान्तं प्रालेयमिव यौवनम् ।।३९।।

अर्थ—जीवों का आयुर्बल तो अंजलि के जल के समान क्षण-क्षण में निरन्तर झरता है और यौवन कमलिनी के पत्र पर पड़े हुए जलबिन्दुओं के समान तत्काल ढलक जाता है। यह प्राणी वृथा ही स्थिरता की इच्छा रखता है ।।३९।।

आगे मनोज्ञविषयों की व्यवस्था का दृष्टान्त कहते हैं—

मनोज्ञविषयैः सार्द्धं संयोगाः स्वप्नसन्निभाः ।
क्षणादेव क्षयं यान्ति वञ्चनोद्धतबुद्धयः ।।४०।।

अर्थ—जीवों के मनोज्ञ विषयों के साथ संयोग स्वप्न के समान हैं, क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं। जिनकी बुद्धि ठगने में उद्धत है, ऐसे ठगों की भाँति ये किंचित्काल चमत्कार दिखाकर फिर सर्वस्व हरने वाले हैं ।।४०।।

अब अन्य सामग्री की व्यवस्था कैसी है, यह दिखाते हैं—

घनमालानुकारीणि कुलानि च बलानि च ।
राज्यालङ्कारवित्तानि कीर्त्तितानि महर्षिभिः ।।४१।।

अर्थ—महर्षियों ने जीवों के कुल-कुटुम्ब, बल, राज्य, अलंकार, धनादिकों को

मेघ पटलों के समूह के समान देखते-देखते विलुप्त होने वाले कहा है। यह मूढ़ प्राणी वृथा ही उनमें नित्य की बुद्धि करता है ।।४१।।

अब शरीर को निःसार बताते हैं—

फेनपुञ्जेऽथवा रम्भास्तम्भे सारः प्रतीयते ।
शरीरे न मनुष्याणां दुर्बुद्धे विद्धि वस्तुतः ।।४२।।

अर्थ—हे दुर्बुद्धि मूर्ख प्राणी! वास्तव में देखा जाए तो झागों के समूह में तथा केले के थंभ में तो कुछ सार प्रतीत होता भी है परन्तु मनुष्यों के शरीर में तो कुछ सार नहीं है।

भावार्थ—यह दुर्बुद्धि प्राणी मनुष्य के शरीर में कुछ सार समझता है, इससे कहा गया है कि इसमें कुछ भी सार नहीं है। मरने के पीछे यह शरीर भस्म कर दिया जाता है तथा अवशेष कुछ भी नहीं रहता। यह प्राणी वृथा ही शरीर को सार जानता है।।४२।।

फिर भी कहते हैं—

यातायातानि कुर्वन्ति ग्रहचन्द्रार्कतारकाः ।
ऋतवश्च शरीराणि न हि स्वप्नेऽपि देहिनाम् ।।४३।।

अर्थ—इस लोक में ग्रह, चन्द्र, सूर्य, तारे तथा छह ऋतु आदि सब ही जाते और आते हैं अर्थात् निरन्तर गमनागमन करते रहते हैं परन्तु जीवों के गये हुए शरीर स्वप्न में भी कभी लौटकर नहीं आते। यह प्राणी वृथा ही इनसे प्रीति करता है ।।४३।।

ये जाताः सातरूपेण पुद्गलाः प्राङ्मनःप्रियाः ।
पश्य पुंसां समापन्ना दुःखरूपेण तेऽधुना ।।४४।।

अर्थ—हे आत्मन्! इस जगत में जो पुद्गल स्कन्ध पहले जिन पुरुषों के मन को प्रिय और सुख के देने वाले उपजे थे वे ही अब दुःख के देने वाले हो गये हैं, उन्हें देख अर्थात् जगत् में ऐसा कोई भी नहीं है जो शाश्वत् सुखरूप ही रहता हो ।।४४।।

अब सामान्यता से कहते हैं—

मोहाञ्जनमिवाक्षाणामिन्द्रजालोपमं जगत् ।
मुह्यत्यस्मिन्नयं लोको न विद्मः केन हेतुना ।।४५।।

अर्थ—यह जगत इन्द्रजालवत् है। प्राणियों के नेत्रों को मोहनी अञ्जन के समान भुलाता है और लोग इसमें मोह को प्राप्त होकर अपने को भूल जाते हैं अर्थात् लोग धोखा खाते हैं अतः आचार्य महाराज कहते हैं कि हम नहीं जानते ये लोग किस कारण से भूलते हैं। यह प्रबल मोह का माहात्म्य ही है ।।४५।।

ये[१] चात्र जगतीमध्ये पदार्थाश्चेतनेतराः ।
ते ते मुनिभिरुद्दिष्टाः प्रतिक्षणविनश्वराः ।।४६।।

१. ये ये च-पाठान्तर ।

अर्थ—इस जगत में जो-जो चेतन और अचेतन पदार्थ हैं, उन्हें सब महर्षियों ने क्षण-क्षण में नष्ट होने वाले और विनाशीक कहा है। यह प्राणी इन्हें नित्यरूप मानता है, यह भ्रम मात्र है ।।४६।।

अब संक्षेपता से कहकर अनित्य भावना के कथन को संकुचित करते हैं—

मालिनी— **गगननगरकल्पं साङ्गमं वल्लभानाम्**
जलदपटलतुल्यं यौवनं वा धनं वा ।
सुजनसुतशरीरादीनि विद्युच्चलानि
क्षणिकमिति समस्तं विद्धि संसारवृत्तम् ।।४७।।

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि हे प्राणी! वल्लभा अर्थात् प्यारी स्त्रियों का संगम आकाश में देवों से रचे हुए नगर के समान है; अतः तुरन्त विलुप्त हो जाता है और तेरा यौवन व धन जलद पटल के समान है, सो भी क्षण में नष्ट हो जाने वाला है तथा स्वजन, परिवार के लोग, पुत्र, शरीरादिक बिजली के समान चंचल हैं। इस प्रकार इस जगत की अवस्था अनित्य जानकर नित्यता की बुद्धि मत रख ।।४७।।

इस भावना का संक्षेप यह है कि यह लोक षड्द्रव्यमयी है। इसे द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो छहों द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में शाश्वते अर्थात् नित्य विराजते हैं परन्तु इनकी पर्यायें (अवस्थायें) स्वभाव विभावरूप उत्पन्न होती और विनशती रहती हैं अतः ये अनित्य हैं। संसारी जीवों को द्रव्य के वास्तविक स्वरूप का तो ज्ञान होता नहीं अतः वे पर्याय को ही वस्तु स्वरूप मानकर उसमें नित्यता की बुद्धि से ममत्व व रागद्वेषादि करते हैं। इस कारण यह उपदेश है कि "पर्याय बुद्धि का एकान्त छोड़कर द्रव्यदृष्टि से अपने स्वरूप को कथंचित् नित्य जान और उसका ध्यान करके लय को प्राप्त होकर वीतराग विज्ञानदशा को प्राप्त होइये"।

दोहा—**द्रव्यरूपकरि सर्व थिर, परजै थिर है कौन ?**
द्रव्यदृष्टि आपा लखौ, पर्ययनय करि गौन ।।१।।
इति अनित्य भावना।।१।।

अथ अशरणभावना लिख्यते

आगे अशरण भावना का व्याख्यान करते हैं—सो प्रथम ही कहते हैं कि जब जीव का काल (मृत्यु) आता है तो कोई भी शरण नहीं है—

न स कोऽप्यस्ति दुर्बुद्धे शरीरी भुवनत्रये ।
यस्य कण्टे कृतान्तस्य न पाशः प्रसरिष्यति ।।१।।

अर्थ—हे मूढ़ दुर्बुद्धि प्राणी! तू जो किसी की शरण चाहता है सो इस त्रिभुवन में

ऐसा कोई भी शरीरी (जीव) नहीं है कि जिसके गले में काल की फाँसी नहीं पड़ती हो।

भावार्थ—समस्त प्राणी काल के वश में हैं ।।१।।

फिर विशेष कहते हैं—

समापतति दुर्वारि यमकण्ठीरवक्रमे ।
त्रायते तु न हि प्राणी सोद्योगैस्त्रिदशैरपि ।।२।।

अर्थ—जब यह प्राणी दुर्निवार कालरूपी सिंह के पाँव तले आ जाता है तब उद्यमशील देवगण भी इसकी रक्षा नहीं कर सकते हैं; अन्य मनुष्यादिकों की तो क्या सामर्थ्य है कि रक्षा कर सकें ।।२।।

सुरासुरनराहीन्द्रनायकैरपि दुर्द्धरा ।
जीवलोकं क्षणार्धेन बध्नाति यमवागुरा ।।३।।

अर्थ—यह काल का जाल अथवा फंदा ऐसा है कि क्षण मात्र में जीवों को फाँस लेता है और सुरेन्द्र-असुरेन्द्र, नरेन्द्र तथा नागेन्द्र भी इसका निवारण नहीं कर सकते हैं ।।३।।

अब कहते हैं कि यह काल अद्वितीय सुभट है—

जगत्त्रयजयी वीर एक एवान्तकः क्षणे ।
इच्छामात्रेण यस्यैते पतन्ति त्रिदशेश्वराः ।।४।।

अर्थ—यह काल तीन जगत को जीतने वाला अद्वितीय सुभट है क्योंकि इसकी इच्छा मात्र से देवों के इन्द्र भी क्षण भर में गिर पड़ते हैं अर्थात् स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं, फिर अन्यत्र की कथा ही क्या है ? ।।४।।

आगे कहते हैं कि जो मृत्युप्राप्त पुरुष का शोक करते हैं वे मूर्ख हैं—

शोच्यन्ते[1] स्वजनं मूर्खाः स्वकर्मफलभोगिनम् ।
नात्मान [2]बुद्धिविध्वंसा यमद्रष्ट्रान्तरस्थितम् ।।५।।

अर्थ—यदि अपना कोई कुटुम्बीजन अपने कर्मवशात् मरण को प्राप्त हो जाता है तो नष्टबुद्धि मूर्खजन उसका शोक करते हैं परन्तु आप स्वयं यमराज की दाढ़ों में आया हुआ है इसकी चिन्ता कुछ भी नहीं करता है! यह बड़ी मूर्खता है ।।५।।

फिर कहते हैं कि पूर्वकाल में बड़े-बड़े पुरुष प्रलय को प्राप्त हो गये—

यस्मिन्संसारकान्तारे यमभोगीन्द्रसेविते ।
पुराणपुरुषाः पूर्वमनन्ताः प्रलयं गताः ।।६।।

अर्थ—कालरूप सर्प से सेवित संसाररूपी वन में पूर्व काल में अनेक पुराण

१. 'शोचन्ति' इत्यपि पाठः। २. बुद्धिविध्वस्ता इत्यपि पाठः।

पुरुष (शलाका पुरुष) प्रलय को प्राप्त हो गये, उनका विचार कर शोक करना वृथा है ।।६।।

फिर भी काल की प्रबलता दिखाते हैं—

प्रतीकारशतेनापि त्रिदशैर्न निवार्यते ।
यत्रायमन्तकः पापी नृकीटैस्तत्र का कथा ।।७।।

अर्थ—जब यह पापस्वरूप यम देवताओं के सैकड़ों उपायों से भी नहीं निवारण किया जाता है, तब मनुष्यरूपी कीड़े की तो बात ही क्या ?

भावार्थ—काल दुर्निवार है ।।७।।

गर्भादारभ्य नीयन्ते प्रतिक्षणमखण्डितैः ।
प्रयाणैः प्राणिनो मूढ़ कर्मणा यममन्दिरम् ।।८।।

अर्थ—हे मूढ़ प्राणी! आयुनामा कर्म जीवों को गर्भावस्था से ही निरन्तर प्रतिक्षण अपने प्रयाणों से (मंजिलों से) यम मंदिर की तरफ ले जाता है, सो उसे देख! ।।८।।

यदि दृष्टः श्रुतो वास्ति यमाज्ञावञ्चको बली ।
तमाराध्य भज स्वास्थ्यं नैव चेत्किं वृथा श्रमः ।।९।।

अर्थ—हे प्राणी! यदि तूने किसी को यमराज की आज्ञा का लोप करने वाला बलवान पुरुष देखा अथवा सुना हो तो तू उसी की सेवा कर अर्थात् उसकी शरण लेकर निश्चिन्त हो रह और यदि ऐसा कोई बलवान देखा या सुना नहीं है तो तेरा खेद करना व्यर्थ है ।।९।।

परस्येव न जानाति विपत्तिं स्वस्य मूढधीः ।
बने सत्त्वसमाकीर्णे दह्यमाने तरुस्थवत् ।।१०।।

अर्थ—ये मूढ़जन दूसरों की आई हुई आपदाओं के समान अपनी आपदाओं को इस प्रकार नहीं जानते, जैसे असंख्य जीवों से भरा हुआ वन जलता हो और वृक्ष पर बैठा हुआ मनुष्य कहे कि देखो ये सब जीव जल रहे हैं परन्तु यह नहीं जाने कि जब यह वृक्ष जलेगा तब मैं भी इनके समान ही जल जाऊँगा। यह बड़ी मूर्खता है ।।१०।।

यथा बालं तथा वृद्धं यथाढ्यं दुर्विधं तथा ।
यथा शूरं तथा भीरुं साम्येन ग्रसतेऽन्तकः ।।११।।

अर्थ—यह काल जैसे बालक को ग्रसता है, तैसे ही वृद्ध को भी ग्रसता है और जैसे धनाढ्य पुरुष को ग्रसता है उसी प्रकार दरिद्र को भी ग्रसता है तथा जैसे शूरवीर को ग्रसता है उसी प्रकार कायर को भी ग्रसता है एवं इस प्रकार जगत के सब ही जीवों को समान भाव से ग्रसता है किसी में भी इसका हीनाधिक विचार नहीं है, इसी कारण से

इसका एक नाम समवर्त्ती भी है ।।११।।

अब कहते हैं कि इस काल को कोई भी नहीं निवार सकता—

गजाश्वरथसैन्यानि मन्त्रौषधबलानि च ।
व्यर्थीभवन्ति सर्वाणि विपक्षे देहिनां यमे ।।१२।।

अर्थ—जब यह काल जीवों के विरुद्ध होता है अर्थात् जगत के जीवों को ग्रसता है तथा नष्ट करता है तब हाथी, घोड़ा, रथ, सेना, तन्त्र, मन्त्र, औषधि, पराक्रमादि सब ही व्यर्थ हो जाते हैं।

भावार्थ—जब मृत्यु (काल) आती है तब इन जीवों को कोई भी नहीं बचा सकता है ।।१२।।

विक्रमैकरसस्तावज्जनः सर्वोऽपि वल्गति ।
न शृणोत्यदयं यावत्कृतान्तहरिगर्जितम् ।।१३।।

अर्थ—पराक्रम ही है अद्वितीय रस जिसके, ऐसा यह मनुष्य तब तक ही उद्धत होकर दौड़ता कूदता है जब तक कि कालरूपी सिंह की गर्जना का शब्द नहीं सुनता अर्थात् 'तेरी मौत आ गई' ऐसा शब्द सुनते ही सब खेलकूद भूल जाता है।।१३।।

अकृताभीष्टकल्याणमसिद्धारब्धवाञ्छितम् ।
प्रागेवागत्य निस्त्रिंशो हन्ति लोकं यमः क्षणे ।।१४।।

अर्थ—यह काल ऐसा निर्दयी है कि जिन्होंने अपना मनोवांछित कल्याणरूप कार्य नहीं किया है और न अपने प्रारम्भ किये हुये कार्यों को पूर्ण कर पाये, ऐसे लोगों को यह सबसे पहले आकर तत्काल मार डालता है। लोगों के कार्य जैसे के तैसे अधूरे ही धरे रह जाते हैं ।।१४।।

फिर भी जीवों के अज्ञानपन को दिखाते हैं—

स्रग्धरा—**भ्रूभङ्गारम्भभीतं स्खलति जगदिदं ब्रह्मलोकावसानम्**
सद्यास्त्रुट्यन्ति शैलाश्चरणगुरुभराक्रान्तधात्रीवशेन।
येषां तेऽपि प्रवीराः कतिपयदिवसैः कालराजेन सर्वे
नीता वार्त्तावशेषं तदपि हतधियां जीवितेऽप्युद्धताशा।।१५।।

अर्थ—जिनकी भौंह के कटाक्षों के प्रारम्भ मात्र से ब्रह्मलोक पर्यन्त का यह जगत भयभीत हो जाता है तथा जिनके चरणों के गुरुभार के कारण पृथ्वी के दबने मात्र से पर्वत तत्काल खण्ड-खण्ड हो जाते हैं, ऐसे-ऐसे सुभटों को भी, जिनकी कि अब कहानी मात्र ही सुनने में आती है, इस काल ने खा लिया है। फिर यह हीनबुद्धि जीव अपने जीने की बड़ी भारी आशा रखता है, यह कैसी बड़ी भूल है ।।१५।।

शार्दूलविक्रीडितम्—

रुद्राशागजदेवदैत्यखाचरग्राहग्रहव्यन्तरा -
दिक्पालाः प्रतिशत्रवो हरिबला व्यालेन्द्रचक्रेश्वराः ।
ये चान्ये मरुदर्यमादिबलिनः संभूय सर्वे स्वयम्
नारब्धं यमकिङ्करैः क्षणमपि त्रातुं क्षमा देहिनम् ।।१६।।

अर्थ—रुद्र, दिग्गज देव, दैत्य, विद्याधर, जलदेवता, ग्रह, व्यन्तर, दिक्पाल, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र, धरणीन्द्र, चक्रवर्ती तथा पवन देव, सूर्यादि बलिष्ठ देहधारी सब एकत्र होकर भी काल के किंकरस्वरूप काल की कला से आरम्भ किये अर्थात् पकड़े हुए प्राणी को क्षणमात्र भी रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं।

भावार्थ—कोई ऐसा समझता होगा कि मृत्यु से बचाने वाला कोई तो इस जगत में अवश्य होगा परन्तु ऐसा समझना सर्वथा मिथ्या है क्योंकि काल से—मृत्यु से रक्षा करने वाला न तो कोई हुआ है और न ही कभी कोई होगा ।।१६।।

फिर भी उपदेश करते हैं—

आरब्धा मृगबालिकेव विपिने संहारदन्तिद्विषा
पुंसां जीवकला निरेति पवनव्याजेन भीता सती ।
त्रातुं न क्षमसे यदि क्रमपदप्राप्तां वराकीमिमां
न त्वं निर्घृण लज्जसेऽत्र जनने भोगेषु रन्तुं सदा ।।१७।।

अर्थ—हे मूढ़ प्राणी! जिस प्रकार वन में मृग की बालिका को सिंह पकड़ने का आरम्भ करता है और वह भयभीत होकर भागती है, उसी प्रकार जीवों के जीवन की कला कालरूपी सिंह से भयभीत होकर उच्छ्वास के बहाने से बाहर निकलती है अर्थात् भागती है और जिस प्रकार वह मृग की बालिका सिंह के पाँवों तले आ जाती है उसी प्रकार जीवों के जीवन की कला के अनुक्रम से अन्त को प्राप्त हो जाती है अतएव तू इस निर्बल की रक्षा करने में समर्थ नहीं है और हे निर्दयी! तू इस जगत में भोगों में रमने को उद्यमी होकर प्रवृत्ति करता है और लज्जित नहीं होता, यह तेरा निर्दयीपन है क्योंकि सत्पुरुषों की ऐसी प्रवृत्ति होती है कि यदि कोई समर्थ किसी असमर्थ प्राणी को दबावे तो अपने समस्त कार्य को छोड़कर उसकी रक्षा करने का विचार करते हैं और तू काल से हनते हुए प्राणियों को देखकर भी भोगों में रमता है और सुकृत करके अपने को नहीं बचाता है, यह तेरी बड़ी निर्दयता है ।।१७।।

स्रग्धरा—**पाताले ब्रह्मलोके सुरपतिभवने सागरान्ते वनान्ते**
दिक्चक्रे शैलशृंगे दहनवनहिमध्वान्तवज्रासिदुर्गे ।

भूगर्भे सन्निविष्टं समदकरिघटासंकटे वा बलीयान्
कालोऽयं क्रूरकर्मा कवलयति बलाज्जीवितं देहभाजां ।।१८।।

अर्थ—यह काल बड़ा बलवान और क्रूरकर्मा अर्थात् दुष्ट है। जीवों को पाताल में, ब्रह्मलोक में, इन्द्र के भवन में, समुद्र के तट, वन के पार, दिशाओं के अन्त में, पर्वत के शिखर पर, अग्नि में, जल में, हिमालय में, अंधकार में, वज्रमयी स्थान में, तलवारों के पहरे में, गढ़ कोट भूमि घर में तथा मदोन्मत्त हस्तियों के समूह इत्यादि किसी भी विकट स्थान में यत्नपूर्वक बिठाओ तो भी यह काल बलात्कारपूर्वक जीवों के जीवन को ग्रसीभूत कर लेता है। इस काल के आगे किसी का भी वश नहीं चलता ।।१८।।

अब अशरण भावना का वर्णन पूरा करने के लिये कथन को संकोचते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम्—

अस्मिन्नन्तकभोगिवक्त्रविवरे संहारदंष्ट्राङ्किते
संसुप्तं भुवनत्रयं स्मरगरव्यापारमुग्धीकृतम् ।
प्रत्येकं गिलितोऽस्य निर्दयधियः केनाप्युपायेन वै
नास्मान्निःसरणं तवार्य कथमप्यत्यक्षबोधं विना ।।१९।।

अर्थ—हे आर्य सत्पुरुष! अन्तसमयरूपी दाढ़ से चिह्नित कालरूप सर्प के मुखरूपी विवर में कामरूपी विष की गहलता से मूर्छित भुवनत्रय के प्राणी गाढ़ निद्रा में सो रहे हैं, उनमें से प्रत्येक को यह निर्दयबुद्धि काल निगलता जाता है परन्तु प्रत्यक्षज्ञान की प्राप्ति के बिना इस काल के पंजे से निकलने का कोई भी उपाय नहीं है अर्थात् अपने ज्ञान व स्वरूप का शरण लेने से ही इस काल से रक्षा हो सकती है। इस प्रकार अशरण भावना का वर्णन किया है ।।१९।।

इस भावना का संक्षेप यह है कि निश्चय से तो समस्त द्रव्य अपनी-अपनी शक्ति के भोगने वाले हैं तथा कोई किसी का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है किन्तु व्यवहार दृष्टि से निमित्त नैमित्तिक भाव देखकर यह जीव अन्य किसी के शरण की कल्पना करता है, यह मोहकर्म के उदय का माहात्म्य है। इस कारण यदि निश्चय दृष्टि से विचारा जाय तो अपने आत्मा का ही शरण है और व्यवहार दृष्टि से विचार किया जाय तो परम्परा सुख के कारण वीतरागता को प्राप्त हुए पंचपरमेष्ठी का ही शरण है क्योंकि ये वीतरागता एकमात्र कारण है अतएव अन्य सबका शरण छोड़कर उक्त दो ही शरण को विचारना चाहिये।

सोरठा—**जग में शरणा दोय, शुद्धातम अरु पंचगुरु ।**
आन कल्पना होय, मोह उदय जियकै वृथा ।।२।।

इति अशरणभावना।।२।।

अथ संसारभावना लिख्यते

आगे संसार भावना का व्याख्यान करते हैं—

चतुर्गतिमहावर्त्ते दुःखवाडवदीपिते ।
भ्रमन्ति भविनोऽजस्त्रं वराका जन्मसागरे ।।१।।

अर्थ—चार गतिरूप महा आवर्त्त (भौंरे) वाले तथा दुःखरूप वडवानल से प्रज्ज्वलित इस संसाररूपी समुद्र में जगत के दीन अनाथ प्राणी निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं ।।१।।

उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते स्वकर्मनिगडैर्वृताः ।
स्थिरेतरशरीरेषु सञ्चरन्तः शरीरिणः ।।२।।

अर्थ—ये जीव अपने-अपने कर्मरूपी बेड़ियों से बंधे स्थावर और त्रस शरीरों में संचार करते हुए मरते और उपजते हैं ।।२।।

कदाचिद्देवगत्यायुर्नामकर्मोदयादिह ।
प्रभवन्त्यङ्गिनः स्वर्गे पुण्यप्राग्भारसंभृताः ।।३।।

अर्थ—कभी तो यह जीव देवगति नामकर्म और देवायुकर्म के उदय से पुण्यकर्म के समूहों से भरे स्वर्गों में देव उत्पन्न होता है ।।३।।

कल्पेषु च विमानेषु निकायेष्वितरेषु च ।
निर्विशन्ति सुखं दिव्यमासाद्य त्रिदिवश्रियम् ।।४।।

अर्थ—और वहाँ देवगति में कल्पवासियों के विमानों में तथा भवनवासी, ज्योतिषी तथा व्यन्तरदेवों में उनकी लक्ष्मी पाकर देवोपनीत सुखों को भोगता है ।।४।।

प्रच्यवन्ते ततः सद्यः प्रविशन्ति रसातलम् ।
भ्रमन्त्यनिलवद्विश्वं पतन्ति नरकोदरे ।।५।।

अर्थ—फिर उस देवगति से च्युत होकर पृथ्वीतल पर आता है और वहाँ पवन के समान जगत में भ्रमण करता है और नरकों में गिरता है ।।५।।

विडम्बयत्यसौ हन्त संसारः समयान्तरे ।
अधमोत्तमपर्यायैर्नियोज्य प्राणिनां गणम् ।।६।।

अर्थ—आचार्य महाराज आश्चर्य करते हैं कि देखो! यह संसार जीवों के समूह को समयान्तर में ऊँची-नीची पर्यायों से जोड़कर विडम्बनारूप करता है और जीव के स्वरूप को अनेक प्रकार से बिगाड़ता है ।।६।।

स्वर्गी पतति साक्रन्दं श्वा स्वर्गमधिरोहति ।
श्रोत्रियः सारमेयः स्यात् कृमिर्वा श्वपचोऽपि वा ।।७।।

अर्थ—अहो! देखो! स्वर्ग का देव तो रोता पुकारता स्वर्ग से नीचे गिरता है और कुत्ता स्वर्ग में जाकर देव होता है एवं श्रोत्रिय अर्थात् क्रियाकाण्ड का अधिकारी अस्पृष्ट रहने वाला ब्राह्मण मर कर कुत्ता, कृमि अथवा चाण्डाल आदि हो जाता है। इस प्रकार इस संसार की विडम्बना है ।।७।।

रूपाण्येकानि गृह्णाति त्यजत्यन्यानि सन्ततम् ।
यथा रङ्गेऽत्र शैलूषस्तथायं यन्त्रवाहकः ।।८।।

अर्थ—यह यंत्रवाहक (प्राणी) संसार में अनेक रूपों को ग्रहण करता है और अनेक रूपों को छोड़ता है। जिस प्रकार नृत्य के रंगमंच पर नृत्य करने वाला भिन्न-भिन्न स्वांगों को धरता है उसी प्रकार यह जीव निरन्तर भिन्न-भिन्न स्वांग (शरीर) धारण करता रहता है ।।८।।

सुतीव्रासातसंतप्ताः मिथ्यात्वातङ्कतर्किताः[1] ।
पञ्चधा परिवर्त्तन्ते प्राणिनो जन्मदुर्गमे ।।९।।

अर्थ—इस संसाररूपी दुर्गम वन में संसारी जीव मिथ्यात्वरूपी रोग से शंकित अतिशय तीव्र असातावेदनीय से दुःखित होते हुए पाँच प्रकार के परिवर्तनों में भ्रमण करते रहते हैं ।।९।।

उन पाँच प्रकार के परिवर्तनों के नाम कहते हैं—

द्रव्यक्षेत्रे तथा कालभवभावविकल्पतः ।
संसारो दुःखसंकीर्णः पञ्चधेति प्रपञ्चितः ।।१०।।

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भाव के भेद से संसार पाँच प्रकार के विस्ताररूप दुःखों से व्याप्त कहा गया है। इन पाँच प्रकार के परिवर्तनों का स्वरूप विस्तारपूर्वक अन्य ग्रन्थों से जानना ।।१०।।

सर्वैः सर्वेऽपि सम्बन्धाः संप्राप्ता देहधारिभिः ।
अनादिकालसंभ्रान्तैस्त्रसस्थावरयोनिषु ।।११।।

अर्थ—इस संसार में अनादिकाल से त्रस-स्थावर योनियों में फिरते हुए जीवों ने समस्त जीवों के साथ पिता, पुत्र, भ्राता, माता, पुत्री, स्त्री आदिक सम्बन्ध अनेक बार पाये हैं। ऐसा कोई भी जीव या सम्बन्ध बाकी नहीं रहा, जो इस जीव ने न पाया हो ।।११।।

देवलोके नृलोके च तिरश्चि नरकेऽपि च ।
न सा योनिर्न तद्रूपं न तद्देशो[2] न तत्कुलम् ।।१२।।
न तद्दुःखं सुखं किञ्चिन्न पर्यायः स विद्यते ।
यत्रैते प्राणिनः शश्वद्यातायातैर्न खण्डिताः ।।१३।।

१. 'शङ्किता' इत्यपि पाठः। २. 'स देशो' इत्यपि पाठः।

अर्थ—इस संसार में चतुर्गति में फिरते हुए जीव के वह योनि वा रूप, देश, काल तथा वह सुख, दुःख वा पर्याय नहीं है, जो निरन्तर गमनागमन करने से प्राप्त न हुई हो।

भावार्थ—सर्व ही अवस्थाएँ अनेक बार भोगनी पड़ती हैं तथा बिना भोगे कुछ भी नहीं है ।।१२-१३।।

न के बन्धुत्वमायाताः न के जातास्तव द्विषः ।
दुरन्तागाधसंसारपङ्कमग्नस्य निर्दयम् ।।१४।।

अर्थ—हे प्राणी! इस दुरन्त अगाध संसाररूपी कर्दम (कीच) में फँसे हुए तेरे ऐसे कौन से जीव हैं जो मित्र वा निर्दयता से शत्रु नहीं हुए ? अर्थात् सब जीव तेरे शत्रु व बन्धु हो गये हैं ।।१४।।

भूपः कृमिर्भवत्यत्र कृमिश्चामरनायकः ।
शरीरी परिवर्त्तेत कर्मणा वञ्चितो बलात् ।।१५।।

अर्थ—इस संसार में यह प्राणी कर्मों से बलात् वंचित हो राजा से तो मरकर कृमि (लट) हो जाता है और कृमि से मरकर क्रम से देवों का इन्द्र हो जाता है। इस प्रकार परस्पर ऊँची गति से नीची गति और नीची गति से ऊँची गति पलटती ही रहती है ।।१५।।

माता पुत्री स्वसा भार्या सैव संपद्यतेऽङ्गजा ।
पिता पुत्रः पुनः सोऽपि लभते पौत्रिकं पदम् ।।१६।।

अर्थ—इस संसार में प्राणी की माता तो मरकर पुत्री हो जाती है और बहन मर कर स्त्री हो जाती है और फिर वही स्त्री मरकर आपकी पुत्री भी हो जाती है। इसी प्रकार पिता मर कर पुत्र हो जाता है तथा फिर वही मरकर पुत्र का पुत्र हो जाता है। इस प्रकार परिवर्तन होता ही रहता है ।।१६।।

अब संसार भावना का वर्णन पूरा करते हैं और उसे सामान्यता से कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम्—

श्वभ्रे शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुरव्याहतै-
स्तिर्यक्षु श्रमदुःखपावकशिखासंभारभस्मीकृतैः ।
मानुष्येऽप्यतुलप्रयासवशगैर्देवेषु रागोद्धतैः
संसारेऽत्र दुरन्तदुर्गतिमये बम्भ्रम्यते प्राणिभिः ।।१७।।

अर्थ—इस दुर्निवार दुर्गतिमय संसार में जीव निरन्तर भ्रमण करते हैं। नरकों में तो ये शूली, कुल्हाड़ी, घाणी, अग्नि, क्षार, जल, छुरा, कटारी आदि से पीड़ा को प्राप्त हुए नाना प्रकार के दुःखों को भोगते हैं और तिर्यंचगति में अग्नि की शिखा के भार से भस्मरूप खेद और दुःख को पाते हैं तथा मनुष्यगति में भी अतुल्य खेद के वशीभूत होकर नाना

प्रकार के दुःख भोगते हैं। इसी प्रकार देवगति में रागभाव से उद्धत होकर दुःख सहते हैं अर्थात् चारों ही गति में दुःख ही पाते हैं, इन्हें सुख कहीं भी नहीं है। इस प्रकार संसार भावना का वर्णन किया है ।।१७।।

इसका संक्षेप यह है कि संसार का कारण अज्ञानभाव है। अज्ञान भाव से परद्रव्यों में मोह तथा रागद्वेष की प्रवृत्ति होती है। रागद्वेष की प्रवृत्ति से कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्ध का फल चारों गति में भ्रमण करना है, सो कार्य है। यहाँ कार्य और कारण दोनों को ही संसार कहते हैं। यहाँ कार्य का वर्णन विशेषता से किया गया है क्योंकि व्यवहारी जीव को कार्यरूप संसार का अनुभव विशेषता से है। परमार्थ से अज्ञान भाव ही संसार है।

दोहा—**परद्रव्यनतें प्रीति जो, है संसार अबोध ।**
ताको फल गति चार में, भ्रमण कह्यो श्रुतशोध ।।३।।
इति संसारभावना।।३।।

अथ एकत्वभावना लिख्यते

आगे एकत्व भावना का व्याख्यान करते हैं—सो प्रथम ही यह कहते हैं कि यह आत्मा समस्त अवस्थाओं में एक ही होता है—

महाव्यसनसंकीर्णे दुःखज्वलनदीपिते ।
एकाक्येव भ्रमत्यात्मा दुर्गे भवमरुस्थले ।।१।।

अर्थ—महाआपदाओं से भरे हुए दुःखरूपी अग्नि से प्रज्वलित और गहन ऐसे संसाररूपी मरुस्थल में (जल-वृक्षादि हीन रेतीली भूमि में) यह जीव अकेला ही भ्रमण करता है। कोई भी इसका साथी नहीं है ।।१।।

स्वयं स्वकर्मनिर्वृत्तं फलं भोक्तुं शुभाशुभम् ।
शरीरान्तरमादत्ते एकः सर्वत्र सर्वथा ।।२।।

अर्थ—इस संसार में यह आत्मा अकेला ही तो अपने पूर्व कर्मों के सुख-दुःख रूप फल को भोगता है और सर्व प्रकार से अकेला ही समस्त गतियों में एक शरीर से दूसरे शरीर को धारण करता है ।।२।।

सङ्कल्पानन्तरोत्पन्नं दिव्यं स्वर्गसुखामृतम् ।
निर्विशत्ययमेकाकी स्वर्गश्रीरञ्जिताशयः ।।३।।

अर्थ—तथा यह आत्मा अकेला ही स्वर्ग की शोभा से रंजायमान होकर देवोपनीत संकल्प मात्र करते ही उत्पन्न होने वाले स्वर्गसुखरूपी अमृत का पान करता है अर्थात् स्वर्ग के सुख भी अकेला ही भोगता है। कोई भी इसका साथी नहीं होता है ।।३।।

संयोगे विप्रयोगे च संभवे मरणेऽथवा ।
सुखदुःखविधौ वास्य न सखान्योऽस्ति देहिनः ।।४।।

अर्थ—इस प्राणी के संयोग-वियोग में अथवा जन्म-मरण में तथा दुःख-सुख भोगने में कोई भी मित्र साथी नहीं है, अकेला ही भोगता है ।।४।।

मित्रपुत्रकलत्रादिकृते कर्म करोत्ययम् ।
यत्तस्य फलमेकाकी भुङ्क्ते श्वभ्रादिषु स्वयम् ।।५।।

अर्थ—तथा यह जीव पुत्र, मित्र, स्त्री आदि के निमित्त जो कुछ भी बुरे-भले कार्य करता है उनका फल भी नरकादिक गतियों में स्वयं अकेला ही भोगता है। वहाँ भी कोई पुत्र-मित्रादि कर्मफल भोगने को साथी नहीं होते हैं ।।५।।

सहाया अस्य जायन्ते भोक्तुं वित्तानि केवलम् ।
न तु सोढुं स्वकर्मोत्थं निर्दयां व्यसनावलीम् ।।६।।

अर्थ—यह प्राणी बुरे-भले कार्य करके जो भी धनोपार्जन करता है, उस धन के भोगने को तो पुत्र-मित्रादि अनेक साथी हो जाते हैं परन्तु अपने कर्मों से उपार्जन किये हुए निर्दयरूप दुःखों के समूह को सहने के अर्थ कोई भी साथी नहीं होता है! यह जीव अकेला ही सब दुःखों को भोगता है ।।६।।

एकत्वं किं न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहार्दिताः ।
यज्जन्ममृत्युसम्पाते प्रत्यक्षमनुभूयते ।।७।।

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि ये मूर्ख प्राणी संसाररूपी पिशाच से पीड़ित होते हुए भी अपनी एकता को क्यों नहीं देखते, जिसे जन्म मरण के प्राप्त होने पर सब ही जीव प्रत्यक्ष में अनुभव करते हैं।

भावार्थ—आप अपनी आँखों से देखता है कि यह जन्मा और यह मरा। जो जन्म लेता है वह मरता है, दूसरा कोई भी उसका साथी नहीं है। इस प्रकार एकाकीपन देखकर भी अपने एकाकीपन को नहीं देखता है, यह बड़ी भूल है ।।७।।

अज्ञातस्वस्वरूपोऽयं लुप्तबोधादिलोचनः ।
भ्रमत्यविरतं जीव एकाकी विधिवञ्चितः ।।८।।

अर्थ—यह जीव अपने अकेलेपन को नहीं देखता है इसका कारण यह है कि, ज्ञानादि नेत्रों के लुप्त होने से यह अपने स्वरूप को भले प्रकार नहीं जानता है और इसी कारण से कर्मों से ठगाया हुआ यह जीव एकाकी ही इस संसार में भ्रमण करता है।

भावार्थ—इसका अज्ञान ही कारण है ।।८।।

यदैक्यं मनुते मोहादयमर्थैः स्थिरेतरैः ।
तदा स्वं स्वेन बध्नाति तद्विपक्षैः शिवीभवेत् ।।९।।

अर्थ—यह मूढ़ प्राणी जिस समय मोह के उदय से चेतन तथा अचेतन पदार्थों से अपनी एकता मानता है तब यह जीव अपने आपको अपने ही भावों से बाँधता है अर्थात् कर्मबन्ध करता है और जब यह अन्य पदार्थों से अपनी एकता नहीं मानता है तब कर्मबन्ध नहीं करता है और कर्मों की निर्जरापूर्वक परम्परा मोक्षगामी होता है। एकत्वभावना का यही फल है ।।९।।

एकाकित्वं प्रपन्नोऽस्मि यदाहं वीतविभ्रमः ।
तदैव जन्मसम्बन्धः स्वयमेव विशीर्यते ।।१०।।

अर्थ—जिस समय यह जीव भ्रमरहित हो ऐसा चिंतवन करे कि मैं एकता को प्राप्त हो गया हूँ उसी समय इस जीव का संसार का सम्बन्ध स्वयं ही नष्ट हो जाता है क्योंकि संसार का सम्बन्ध तो मोह से है और यदि मोह जाता रहे तो आप एक हैं फिर मोक्ष क्यों न पावें ? ।।१०।।

अब एकत्व भावना का व्याख्यान पूरा करते हैं, सो सामान्यता से कहते हैं—

एकः स्वर्गी भवति विबुधः स्त्रीमुखाम्भोजभृङ्गः
एकः श्वाभ्रं पिबति कलिलं छिद्यमानः कृपाणैः ।
एकः क्रोधाद्यनलकलितः कर्म बध्नाति विद्वान्
एकः सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति ।।११।।

अर्थ—यह आत्मा आप एक ही देवांगना के मुखरूपी कमल की सुगन्धी लेने वाले भ्रमर के समान स्वर्ग का देव होता है और अकेला आप ही कृपाण, छुरी, तलवारों से छिन्न-भिन्न किया हुआ नरक सम्बन्धी रुधिर को पीता है तथा अकेला आप क्रोधादि कषायरूपी अग्नि सहित होकर कर्मों को बाँधता है और अकेला ही आप विद्वान् ज्ञानी पण्डित होकर समस्त कर्मरूप आवरण के अभाव होने पर ज्ञानरूप राज्य को भोगता है।

भावार्थ—आत्मा आप अकेला ही स्वर्ग में जाता है, आप अकेला ही नरक में जाता है, आप ही कर्म बाँधता है और आप ही केवलज्ञान पाकर मोक्ष को जाता है ।।११।।

इस भावना का संक्षेप आशय इतना ही है कि परमार्थ से (निश्चय से) तो आत्मा अनन्तज्ञानादिस्वरूप आप एक ही है परन्तु संसार में जो अनेक अवस्थायें होती हैं वे कर्म के निमित्त से होती हैं। उनमें भी आप अकेला ही है, इसका दूसरा कोई भी साथी नहीं है इस प्रकार एकत्व भावना का व्याख्यान किया है।

दोहा—**परमारथतें आत्मा, एक रूप ही जोय ।**
कर्मनिमित्त विकल्प घनें, तिनि नाशें शिव होय ।।४।।

इति एकत्व भावना।।४।।

अथ अन्यत्वभावना लिख्यते

आगे अन्यत्व भावना का व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही परमार्थतः आत्मा को शरीरादिक से भिन्न दिखाते हैं—

अयमात्मा स्वभावेन शरीरादेर्विलक्षणः ।
चिदानन्दमयः शुद्धो बन्धं प्रत्येकवानपि ।।१।।

अर्थ—यह आत्मा यदि कर्मबन्ध की दृष्टि से देखा जाए तो बंधरूप वा एकरूप है और स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो शरीरादिक से विलक्षण चिदानन्दमय परद्रव्य से भिन्न है, शुद्ध है ।।१।।

अचिच्चिद्रूपयोरैक्यं बन्धं प्रति न वस्तुतः ।
अनादिश्चानयोः श्लेषः स्वर्णकालिकयोरिव ।।२।।

अर्थ—चेतन और अचेतन के बन्धदृष्टि की अपेक्षा एकपना है और वस्तुतः देखने से दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, एकपना नहीं है। इन दोनों का अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाहरूप संश्लेष है-मिलाप है। जैसे सुवर्ण और कालिमा के खानि में एकपना है उसी प्रकार जीव-पुद्गलों के एकता है परन्तु वास्तव में भिन्न-भिन्न वस्तु हैं ।।२।।

इह मूर्त्तममूर्त्तेन चलेनात्यन्तनिश्चलम् ।
शरीरमुह्यते मोहाच्चेतनेनास्तचेतनम् ।।३।।

अर्थ—इस जगत में मोह के कारण अमूर्तिक और चलने वाले जीव को यह मूर्तिक अतिनिश्चल चेतनारहित जड़ शरीर अपने साथ-साथ लगाये रहना पड़ता है।

भावार्थ—जीव अमूर्तिक चेतन है और मोह के कारण चलने के स्वभाव से सहित है और शरीर मूर्तिक है, अचेतन है, चलने की इच्छारहित है और चल नहीं है। यह जीव उसको जीता पुरुष जैसे मुरदे को लिये फिरे, उसी प्रकार लिये फिरता है ।।३।।

अणुप्रचयनिष्पन्नं शरीरमिदमङ्गिनाम् ।
उपयोगात्मकोऽत्यक्षः शरीरी ज्ञानविग्रहः ।।४।।

अर्थ—जीवों का यह शरीर पुद्गल परमाणुओं के समूह से बना है और शरीरी अर्थात् आत्मा उपयोगमयी है और अतीन्द्रिय है। यह इन्द्रियगोचर नहीं है तथा इसका ज्ञान ही शरीर है। शरीर और आत्मा में इस प्रकार अत्यन्त भेद है ।।४।।

अन्यत्वं किं न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहार्दिताः ।
यज्जन्ममृत्युसंपाते सर्वेणापि प्रतीयते ।।५।।

अर्थ—यद्यपि उक्त प्रकार से शरीर और आत्मा के अन्यपना है तथापि संसाररूपी पिशाच से पीड़ित मूढ़ प्राणी क्यों नहीं देखते कि यह अन्यपना जन्म तथा मरण के सम्पात

में सर्वलोक की प्रतीति में आता है ? अर्थात् जन्मा तब शरीर को साथ लाया नहीं, और मरता है तब यह शरीर साथ जाता नहीं है। इस प्रकार शरीर से जीव की पृथकता प्रतीत होती है ।।५।।

मूर्तैर्विचेतनैश्चित्रैः स्वतन्त्रैः परमाणुभिः ।
यद्वपुर्विहितं तेन कः सम्बन्धस्तदात्मनः ।।६।।

अर्थ—मूर्तिक चेतनारहित नाना प्रकार के स्वतन्त्र पुद्गल परमाणुओं से जो शरीर रचा गया है उससे और आत्मा से क्या सम्बन्ध है ? विचारो! इसका विचार करने से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा प्रतिभास होगा ।।६।।

इस प्रकार शरीर से भिन्नता बताई, अब अन्यान्य पदार्थों से भिन्नता दिखाते हैं—

अन्यत्वमेव देहेन स्याद्भृशं यत्र देहिनः ।
तत्रैक्यं बन्धुभिः सार्धं बहिरङ्गैः कुतो भवेत् ।।७।।

अर्थ—जब उपर्युक्त प्रकार से देह से ही प्राणी के अत्यन्त भिन्नता है तब बहिरंग जो कुटुम्बादिक हैं उनसे एकता कैसे हो सकती है ? क्योंकि ये तो प्रत्यक्ष में भिन्न दीख पड़ते हैं ।।७।।

ये ये सम्बन्धमायाताः पदार्थाश्चेतनेतराः ।
ते ते सर्वेऽपि सर्वत्र स्वस्वरूपाद्विलक्षणाः ।।८।।

अर्थ—इस जगत में जो-जो जड़ और चेतन पदार्थ इस प्राणी के सम्बन्धरूप हुए हैं, वे सब ही सर्वत्र अपने-अपने स्वरूप से विलक्षण (भिन्न-भिन्न) हैं, आत्मा सबसे अन्य है ।।८।।

पुत्रमित्रकलत्राणि वस्तूनि च धनानि च ।
सर्वथाऽन्यस्वभावानि भावय त्वं प्रतिक्षणम् ।।९।।

अर्थ—हे आत्मन्! इस जगत में पुत्र, मित्र, स्त्री आदि अन्य वस्तुओं की तू निरन्तर सर्व प्रकार से अन्य स्वभाव भावना कर, इनमें एकपने की भावना कदापि न कर, ऐसा उपदेश है ।।९।।

अन्यः कश्चिद्भवेत्पुत्रः पितान्यः कोऽपि जायते ।
अन्येन केनचित्सार्द्धं कलत्रेणानुयुज्यते ।।१०।।

अर्थ—इस जगत में कोई अन्य जीव ही तो पुत्र होता है और अन्य ही पिता होता है और किसी अन्य जीव के साथ ही स्त्री सम्बन्ध होता है। इस प्रकार सब ही सम्बन्ध भिन्न-भिन्न जीवों से होते हैं ।।१०।।

त्वत्स्वरूपमतिक्रम्य पृथक्पृथग्व्यवस्थिताः ।
सर्वेऽपि सर्वथा मूढ भावास्त्रैलोक्यवर्त्तिनः ।।११।।

अर्थ—हे मूढ़ प्राणी! तीन लोकवर्ती समस्त ही पदार्थ तेरे स्वरूप से भिन्न सर्वथा पृथक्-पृथक् तिष्ठते हैं, तू उनसे अपना एकत्व न मान।।११।।

अब अन्यत्व भावना के कथन को पूरा करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम्—

मिथ्यात्वप्रतिबद्धदुर्नयपथभ्रान्तेन बाह्यानलं
भावान् स्वान् प्रतिपद्य जन्मगहने खिन्नं त्वया प्राक् चिरं ।
संप्रत्यस्तसमस्तविभ्रमभवश्चिद्रूपमेकं परम्
स्वस्थं स्वं प्रविगाह्य सिद्धिवनितावक्त्रं समालोकय ।।१२।।

अर्थ—हे आत्मन्! तू इस संसाररूपी गहन वन में मिथ्यात्व के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए सर्वथा एकान्तरूप दुर्नय के मार्ग में भ्रमरूप होता हुआ, बाह्य पदार्थों को अतिशय करके, अपने मान करके तथा अंगीकार करके, चिरकाल से सदैव खेदखिन्न हुआ और अब अस्त हुआ है समस्त विभ्रमों का भार जिसका ऐसा होकर, तू अपने आप ही में रहने वाले उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूप को अवगाहन करके उसमें मुक्तिरूपी स्त्री के मुख को अवलोकन कर (देख)।

भावार्थ—यह आत्मा अनादिकाल से परपदार्थों को अपने मानकर उनमें रमता है इसी कारण से संसार में भ्रमण किया करता है। आचार्य महाराज ने ऐसे ही जीव को उपदेश किया है कि तू परभावों से भिन्न अपने चैतन्यभाव में लीन होकर मुक्ति को प्राप्त हो। इस प्रकार यह अन्यत्वभावना का उपदेश है ।।१२।।

इसका संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि इस लोक में समस्त द्रव्य अपनी-अपनी सत्ता को लिये भिन्न-भिन्न हैं। कोई भी किसी में नहीं मिलता है और परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव से कुछ कार्य होता है, उसके भ्रम से यह प्राणी पर में अहंकार ममकार करता है, सो जब यह अपना स्वरूप जाने तब अहंकार ममकार अपने में ही हो और तब पर का उपद्रव आपके नहीं आवे, यह अन्यत्व भावना है।

दोहा—**अपने-अपने सत्त्वकूं, सर्व वस्तु विलसाय ।**
ऐसे चितवै जीव तब, परतैं ममत न धाय ।।२।।
इति अन्यत्व भावना।।५।।

अथ अशुचि भावना लिख्यते

आगे अशुचि भावना का व्याख्यान करते हैं। प्रथम शरीर की अशुचि दिखाते हैं—

निसर्गमलिनं निन्द्यमनेकाशुचिसम्भृतम् ।
शुक्रादिबीजसम्भूतं घृणास्पदमिदं वपुः ।।१।।

अर्थ—इस संसार में जीवों का जो शरीर है, वह प्रथम तो स्वभाव से ही मलिन रूप (मैला झरने वाला) है, निंद्य है तथा अनेक धातु-उपधातुओं से भरा हुआ है एवं शुक्र रुधिर के बीज से उत्पन्न हुआ है, इस कारण ग्लानि का स्थान है ।।१।।

असृग्मांसवसाकीर्णं शीर्णं कीकसपञ्जरम् ।
शिरानद्धं च दुर्गन्धं क्व शरीरं प्रशस्यते ।।२।।

अर्थ—यह शरीर रुधिर, माँस, चर्बी से घिरा हुआ सड़ रहा है, हाड़ों का पंजर है और शिराओं से (नसों से) बंधा हुआ दुर्गन्धमय है। आचार्य महाराज कहते हैं कि इस शरीर के कौन से स्थान की प्रशंसा करें ? सर्वत्र निंद्य ही दीख पड़ता है ।।२।।

प्रस्रवन्नवभिद्वारैः पूतिगन्धान्निरन्तरम् ।
क्षणक्षयं पराधीनं शश्वन्नरकलेवरम् ।।३।।

अर्थ—यह मनुष्य का शरीर नव द्वारों से निरन्तर दुर्गन्धरूप पदार्थों से झरता रहता है तथा क्षणध्वंसी पराधीन है और नित्य अन्न पानी की सहायता चाहता है ।।३।।

कृमिजालशताकीर्णे रोगप्रचयपीडिते ।
जराजर्जरिते काये कीदृशी महतां रतिः ।।४।।

अर्थ—यह शरीर लट कीड़ों के सैकड़ों समूहों से भरा हुआ रोगों के समूह से पीड़ित तथा वृद्धावस्था से जर्जरित है। ऐसे शरीर में महन्त पुरुषों की रति (प्रीति) कैसे हो ? कदापि नहीं हो ।।४।।

यद्यद्वस्तु शरीरेऽत्र साधुबुद्ध्या विचार्यते ।
तत्तत्सर्वं घृणां दत्ते दुर्गन्धामेध्यमंदिरे ।।५।।

अर्थ—इस शरीर में जो-जो पदार्थ हैं, सुबुद्धि से विचार करने पर वे सब घृणा के स्थान तथा दुर्गन्धमय विष्टा के घर ही प्रतीत होते हैं। इस शरीर में कोई भी पदार्थ पवित्र नहीं है ।।५।।

यदीदं शोध्यते दैवाच्छरीरं सागराम्बुभिः ।
दूषयत्यपि तान्येवं शोध्यमानमपि क्षणे ।।६।।

अर्थ—यदि इस शरीर को दैवात् समुद्र के जल से भी शुद्ध किया जाय तो उसी क्षण समुद्र के जल को भी यह अशुद्ध (मैला) कर देता है। अन्य वस्तु को अपवित्र कर दे, तो आश्चर्य ही क्या ? ।।६।।

कलेवरमिदं न स्याद्यदि चर्मावगुण्ठितम् ।
मक्षिकाकृमिकाकेभ्यः स्यात्त्रातुं कस्तदा प्रभुः ।।७।।

अर्थ—यदि यह शरीर बाहर के चमड़े से ढका हुआ नहीं होता तो मक्खी, कृमि

तथा कौओं से इसकी रक्षा करने में कोई भी समर्थ नहीं होता। ऐसे घृणास्पद शरीर को देखकर सत्पुरुष जब दूर से छोड़ देते हैं, तब इसकी रक्षा कौन करे ? ।।७।।

सर्वदैव रुजाक्रान्तं सर्वदैवाशुचेर्गृहम् ।
सर्वदा पतनप्रायं देहिनां देहपञ्जरम् ।।८।।

अर्थ—इन जीवों का देहरूपी पिंजरा सदा ही रोगों से व्याप्त, सर्वदा अशुद्धताओं का घर और सदा ही पतन होने के स्वभाव वाला है। ऐसा कभी मत समझो कि किसी काल में यह उत्तम और पवित्र होता होगा ।।८।।

तैरेव फलमेतस्य गृहीतं पुण्यकर्मभिः ।
विरज्य जन्मनः स्वार्थे यैः शरीरं कदर्थितम् ।।९।।

अर्थ—इस शरीर के प्राप्त होने का फल उन्हीं ने लिया जिन्होंने संसार से विरक्त होकर इसे अपने आत्मकल्याण के मार्ग में लगाकर पुण्य कर्मों से क्षीण किया ।।९।।

शरीरमेतदादाय त्वया दुःखं विसह्यते ।
जन्मन्यस्मिंस्ततस्तद्धि निःशेषानर्थमन्दिरम् ।।१०।।

अर्थ—हे आत्मन्! इस संसार में तूने इस शरीर को ग्रहण करके दुःख पाये व सहे हैं इसी से तू निश्चय कर जान कि यह शरीर ही समस्त अनर्थों का घर है, इसके संसर्ग से सुख का लेश भी न मान ।।१०।।

भवोद्भवानि दुःखानि यानि यानीह देहिभिः ।
सह्यन्ते तानि तान्हुच्चैर्वपुरादाय केवलम् ।।११।।

अर्थ—इस जगत में संसार से (जन्म मरण से) उत्पन्न जो-जो दुःख जीवों को सहने पड़ते हैं वे सब केवल इस शरीर के ग्रहण से ही सहने पड़ते हैं। इस शरीर से निवृत्त (मुक्त) होने पर फिर कोई भी दुःख नहीं है ।।११।।

आर्या—**कर्पूरकुङ्कुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि ।**
भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम् ।।१२।।

अर्थ—कर्पूर, केशर, अगर, कस्तूरी, हरिचंदनादि सुन्दर-सुन्दर पदार्थों को भी यह मनुष्यों का शरीर संसर्ग मात्र से ही अर्थात् लगाते ही अशुद्ध (मैले) कर देता है।

भावार्थ—आप तो मैला ही है और संसर्ग से उत्तमोत्तम पदार्थों को भी मलिन कर देता है, यह अधिकता है ।।१२।।

अब अशुचि भावना के कथनों को पूरा करते हैं—

मालिनी—**अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकसानां**
कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ गाढम् ।

यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं
कथमिह मनुजानां प्रीयते स्याच्छरीरम् ।।१३।।

अर्थ—हे मूढ़ प्राणी! इस संसार में मनुष्यों का यह शरीर चर्म के पटलों से (परदों से) ढका हुआ हाड़ों का पिंजरा है तथा बिगड़ी हुई राध की (पीब की) दुर्गन्ध से परिपूर्ण है एवं काल के मुख में बैठे हुए रोगरूपी सर्पों का घर है। ऐसा शरीर प्रीति करने के योग्य कैसे हो सकता है ? यह बड़ा ही आश्चर्य है ।।१३।।

इस अशुचिभावना के व्याख्यान का संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि आत्मा तो निर्मल है, अमूर्तिक है और उसके मल लगता ही नहीं है; परन्तु कर्मों के निमित्त से जो इस शरीर का सम्बन्ध है उसे यह अज्ञान से (मोह से) अपना मानकर भला जानता है और मनुष्यों का यह शरीर सर्वथा अपवित्रता का घर है। इस कारण इसमें जब अशुचि भावना भावे तब इससे विरक्तता होकर अपने निर्मल आत्मस्वरूप में रमने की रुचि हो। इस प्रकार अशुचिभावना का आशय है।

दोहा—**निर्मल अपनो आतमा, देह अपावन गेह ।**
जानि भव्य निजभाव को, यासों तजो सनेह ।।६।।
इति अशुचिभावना।।६।।

अथ आस्रवभावना लिख्यते

आगे आस्रवभावना का व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही आस्रव का स्वरूप कहते हैं—

मनस्तनुवचःकर्म योग इत्यभिधीयते ।
स एवास्रव इत्युक्तस्तत्त्वज्ञानविशारदैः ।।१।।

अर्थ—मन-वचन-काय की क्रिया को योग कहते हैं और इस योग को ही तत्वविशारदों ने (ऋषियों ने) आस्रव कहा है। यह स्वरूप तत्वार्थसूत्र में कहा है। यथा—"कायवाङ्मनः कर्मयोगः ।।१।। स आस्रवः"।।२।।

वार्द्धेरन्तः समादत्ते यानपात्रं यथा जलम् ।
छिद्रैर्जीवस्तथा कर्म योगरन्ध्रैः शुभाशुभैः ।।२।।

अर्थ—जैसे समुद्र में प्राप्त हुआ जहाज छिद्रों से जल को ग्रहण करता है, उस ही प्रकार जीव शुभाशुभ योगरूप छिद्रों से (मन-वचन-काय से) शुभाशुभ कर्मों को ग्रहण करता है ।।२।।

यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्तावलम्बितम् ।
मैत्र्यादिभावनारूढं मनः सूते शुभास्रवम् ।।३।।

अर्थ—यम (अणुव्रत-महाव्रत), प्रशम (कषायों की मंदता), निर्वेद (संसार से

विरागता अथवा धर्मानुराग) तथा तत्त्वों का चिन्तवन इत्यादि का अवलंबन हो एवं मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चारों भावों की जिस मन में भावना हो, वही मन शुभास्रव को उत्पन्न करता है ।।३।। और—

कषायदहनोद्दीप्तं विषयैर्व्याकुलीकृतम् ।
सञ्चिनोति मनः कर्म जन्मसम्बन्धसूचकम् ।।४।।

अर्थ—कषायरूप अग्नि से प्रज्वलित और इन्द्रियों के विषयों से व्याकुल मन संसार के सम्बन्ध के सूचक अशुभ कर्मों का संचय करता है ।।४।।

विश्वव्यापारनिर्मुक्तं श्रुतज्ञानावलम्बितम् ।
शुभास्रवाय विज्ञेयं वचः सत्यं प्रतिष्ठितम् ।।५।।

अर्थ—समस्त विश्व के व्यापारों से रहित और श्रुतज्ञान के अवलम्बनयुक्त और सत्यरूप प्रामाणिक वचन शुभास्रव के लिये होते हैं ।।५।।

अपवादास्पदीभूतमसन्मार्गोपदेशकम् ।
पापास्रवाय विज्ञेयमसत्यं परुषं वचः ।।६।।

अर्थ—अपवाद (निन्दा) का स्थान, असन्मार्ग का उपदेशक, असत्य, कठोर, कानों से सुनते ही जो दूसरे के कषाय उत्पन्न कर दे और जिससे पर का बुरा हो जाए, ऐसे वचन अशुभास्रव के कारण होते हैं ।।६।।

सुगुप्तेन सुकायेन कायोत्सर्गेण वाऽनिशम् ।
सञ्चिनोति शुभं कर्म काययोगेन संयमी ।।७।।

अर्थ—भले प्रकार गुप्त रूप किये हुए अर्थात् अपने वशीभूत किये हुए काय से तथा निरन्तर कायोत्सर्ग से संयमी मुनि शुभ कर्म को संचय (आस्रवरूप) करते हैं ।।७।।

सततारम्भयोगैश्च व्यापारैर्जन्तुघातकैः ।
शरीरं पापकर्माणि संयोजयति देहिनाम् ।।८।।

अर्थ—निरन्तर आरम्भ करने वाले और जीव घात के कार्यों से तथा व्यापारों से जीवों का शरीर (काययोग) पापकर्मों को संग्रह करता है अर्थात् काययोग से अशुभास्रव करता है ।।८।।

अब आस्रवभावना का व्याख्यान पूर्ण करते हैं—

शिखरणी—**कषायाः क्रोधाद्याः स्मरसहचराः पञ्चविषयाः**
प्रमादा मिथ्यात्वं वचनमनसी काय इति च ।
दुरन्ते दुर्ध्याने विरतिविरहश्चेति नियतं
स्रवन्त्येते पुंसां दुरितपटलं जन्मभयदम् ।।९।।

अर्थ—प्रथम तो मिथ्यात्वरूप परिणाम, दूसरे क्रोधादि कषाय, तीसरे काम के सहचारी (मित्र) पंचेन्द्रियों के विषय, चौथे प्रमाद विकथा, पाँचवें मन-वचन-काय के योग, छठे व्रतरहित अविरतिरूप परिणाम और सातवें आर्त्त-रौद्र दोनों अशुभ ध्यान ये सब परिणाम नियम से पापरूप आस्रवों को करते हैं। इन परिणामों का विशेष कथन तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं से जानना चाहिये। इस प्रकार आस्रवभावना का व्याख्यान पूर्ण किया ।।९।।

इसका संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि यद्यपि यह आत्मा शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से तो आस्रव से रहित केवलज्ञानरूप है तथापि अनादिकर्म के सम्बन्ध से मिथ्यात्वादि परिणामरूप परिणमता है अतएव नवीन कर्मों का आस्रव करता है। जब उन मिथ्यात्वादि परिणामों से निवृत्ति पाकर अपने स्वरूप का ध्यान करे तब कर्मास्रवों से रहित हो और मुक्त हो। यह आस्रवभावना का आशय है।

दोहा—**आतम केवलज्ञानमय, निश्चयदृष्टि निहार।**
सब विभाव परिणाममय, आस्रवभाव विडार ।।७।।
इति आस्रवभावना।।७।।

अथ संवरभावना लिख्यते

आगे संवरभावना का व्याख्यान करते हैं। पहले संवर का स्वरूप कहते हैं—

सर्वास्रवनिरोधो यः संवरः स प्रकीर्तितः।
द्रव्यभावविभेदेन स द्विधा भिद्यते पुनः ।।१।।

अर्थ—समस्त आस्रवों के निरोध को संवर कहा है। वह द्रव्यसंवर तथा भावसंवर के भेद से दो प्रकार का है ।।१।।

आगे दोनों भेदों का स्वरूप कहते हैं—

यः कर्मपुद्गलादानविच्छेदः स्यात्तपस्विनः।
स द्रव्यसंवरः प्रोक्तो ध्याननिर्धूतकल्मषैः ।।२।।

अर्थ—ध्यान से पापों को उड़ाने वाले ऋषियों ने कहा है कि जो तपस्वी मुनियों के कर्मरूप पुद्गलों के ग्रहण करने का विच्छेद (निरोध) हो, वह द्रव्यसंवर है ।।२।।

या संसारनिमित्तस्य क्रियाया विरतिः स्फुटम्।
स भावसंवरस्तज्ज्ञैर्विज्ञेयः परमागमात् ।।३।।

अर्थ—संसार के कारणस्वरूप कर्म ग्रहण की क्रिया की विरति अर्थात् अभाव को भावसंवर कहते हैं, यह निश्चित है ऐसा उक्त भावसंवर के ज्ञाताओं को परमागम से जानना चाहिये ।।३।।

असंयममयैर्बाणैः संवृतात्मा न भिद्यते।
यमी यथा सुसन्नद्धो वीरः समरसंकटे ।।४।।

अर्थ—जिस प्रकार युद्ध के संकट में भले प्रकार से सजा हुआ वीर पुरुष बाणों से नहीं भिदता है, उसी प्रकार संसार की कारणरूप क्रियाओं से विरतिरूप संवर वाला संयमी मुनि भी असंयमरूप बाणों से नहीं भिदता है ।।४।।

आगे आस्रवों के रोकने का विधान कहते हैं—

जायते यस्य यः साध्यः स तेनैव निरुध्यते।
अप्रमत्तैः समुद्युक्तैः संवरार्थं महर्षिभिः ।।५।।

अर्थ—प्रमादरहित संवर के लिए उद्यमी महर्षियों द्वारा जो जिसको साध्य हो, वह उसी से रोकना चाहिये।

भावार्थ—जिस कारण से आस्रव हो उसके प्रतिपक्षी भावों से उसे रोकना चाहिये ।।५।।

उन भावों को आगे कहते हैं—

क्षमा क्रोधस्य मानस्य मार्दवं त्वार्जवं पुनः।
मायायाः सङ्गसंन्यासो लोभस्यैते द्विषः क्रमात् ।।६।।

अर्थ—क्रोधकषाय का तो क्षमा शत्रु है तथा मान कषाय का मृदुभाव (कोमल भाव), मायाकषाय का ऋजुभाव (सरल भाव) और लोभकषाय का परिग्रहत्याग भाव; इस प्रकार अनुक्रम से शत्रु जानने चाहिये ।।६।।

रागद्वेषौ समत्वेन निर्ममत्वेन वाऽनिशम्।
मिथ्यात्वं दृष्टियोगेन निराकुर्वन्ति योगिनः ।।७।।

अर्थ—जो योगी ध्यानी मुनि हैं वे निरन्तर समभावों से अथवा निर्ममत्व से राग द्वेष का निराकरण (परास्त) करते रहते हैं तथा सम्यग्दर्शन के योग से मिथ्यात्वरूप भावों को नष्ट कर देते हैं ।।७।।

अविद्याप्रसरोद्भूतं तमस्तत्त्वावरोधकम्।
ज्ञानसूर्यांशुभिर्भाढं स्फेटयन्त्यात्मदर्शिनः ।।८।।

अर्थ—आत्मा को अवलोकन करने वाले मुनिगण अविद्या के विस्तार से उत्पन्न और तत्त्वज्ञान को रोकने वाले अज्ञानरूपी अंधकार को ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से अतिशय दूर कर देते हैं ।।८।।

असंयमगरोद्गारं सत्संयमसुधाम्बुभिः।
निराकरोति निःशङ्कं संयमी संवरोद्यतः ।।९।।

अर्थ—संवर करने में तत्पर संयमी और निःशंक मुनि असंयमरूपी विष के (जहर के) उद्‌गार को संयमरूपी अमृतमयी जलों से दूर कर देते हैं ।।९।।

द्वारपालीव यस्योच्चैर्विचारचतुरा मतिः ।
हृदि स्फुरति तस्याघसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ।।१०।।

अर्थ—जिस पुरुष के हृदय में द्वारपाल के समान अतिशय विचार करने वाली चतुर मति कलोलें करती हैं उसके हृदय में स्वप्न में भी पाप की उत्पत्ति होनी कठिन है।

भावार्थ—जैसे चतुर द्वारपाल मैले तथा असभ्य जनों को घर में प्रवेश नहीं करने देता है उसी प्रकार से समीचीन बुद्धि पापबुद्धि को हृदय में फटकने नहीं देती ।।१०।।

अब संक्षेपता से कहते हैं—

विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः ।
यदाधत्ते तदैव स्यान्मुनेः परमसंवरः ।।११।।

अर्थ—जिस समय समस्त कल्पनाओं के जाल को छोड़कर अपने स्वरूप में मन को निश्चलता से थामते हैं, उस ही काल मुनि को परमसंवर होता है ।।११।।

आगे संवर का कथन पूर्ण करते हुए संवर की महिमा कहते हैं—

मालिनी—**सकलसमितिमूलः संयमोद्दामकाण्डः**
प्रशमविपुलशाखो धर्मपुष्पावकीर्णः ।
अविकलफलबन्धैर्बन्धुरो भावनाभि-
र्जयति जितविपक्षः संवरोद्दामवृक्षः ।।१३।।

अर्थ—ईर्या समिति आदि पाँच समितियाँ ही हैं मूल अर्थात् जड़ जिसकी, सामायिकादि संयम ही हैं स्कन्ध जिसके और प्रशमरूप (विशुद्धभावरूप) बड़ी-बड़ी शाखा वाले उत्तम क्षमा आदि दस धर्म हैं पुष्प जिसके तथा मजबूत अविकल हैं फल जिसमें, ऐसा बारह भावनाओं से सुन्दर यह संवररूपी महावृक्ष सर्वोपरि है। इस प्रकार संवरभावना का व्याख्यान कियाहै ।।१३।।

इसका संक्षिप्त आशय यह है कि आत्मा अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूल रहा है इस कारण आस्रवरूप भावों से कर्मों को बाँधता है और जब यह अपने स्वरूप को जानकर उसमें लीन होता है तब यह संवररूप होकर आगामी कर्मबन्ध को रोकता है और पूर्व कर्मों की निर्जरा होने पर मुक्त हो जाता है। उस संवर के बाह्य कारण समिति, गुप्ति, धर्मानुप्रेक्षा, परीषहों का जीतना तथा चारित्र आदि कहे गये हैं। उनका विशेष कथन तत्वार्थसूत्र की टीकाओं से जानना चाहिये।

दोहा—**निजस्वरूप में लीनता, निश्चय संवर जानि ।**
समिति-गुप्ति-संयम धरम, करें पाप की हानि ।।८।।

इति संवरभावना।।८।।

अथ निर्जरा भावना लिख्यते

आगे निर्जरा भावना का व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही निर्जरा का तथा यह जिनको होती है, उन्हीं का स्वरूप कहते हैं—

यया कर्माणि शीर्यन्ते बीजभूतानि जन्मनः ।
प्रणीता यमिभिः सेयं निर्जरा जीर्णबन्धनैः ।।१।।

अर्थ—निर्जरा से जीर्ण हो गये हैं कर्मबन्ध जिनके ऐसे मुनिजन, जिससे संसार के बीजरूप कर्म गल जाते हैं व झड़ जाते हैं, उसे निर्जरा कहते हैं ।।१।।

सकामाकामभेदेन द्विधा सा स्याच्छरीरिणाम् ।
निर्जरा यमिनां पूर्वा ततोऽन्या सर्वदेहिनाम् ।।२।।

अर्थ—यह निर्जरा जीवों को सकाम और अकाम दो प्रकार की होती है। इनमें से पहली सकाम निर्जरा तो मुनियों को होती है और दूसरी अकाम निर्जरा समस्त जीवों को होती है इससे अर्थात् अकाम निर्जरा से बिना तपश्चरणादि के स्वयमेव निरन्तर ही कर्म उदय रस देकर क्षरते रहते हैं ।।२।।

पाकः स्वयमुपायाच्च स्यात्फलानां तरोर्यथा ।
तथात्र कर्मणां ज्ञेयः स्वयं सोपायलक्षणः ।।३।।

अर्थ—जिस प्रकार वृक्षों के फलों का पकना एक तो स्वयं ही होता है, दूसरे पाल देने से भी होता है इसी प्रकार कर्मों का पकना भी है अर्थात् एक तो कर्मों की स्थिति पूरी होने पर फल देकर क्षर जाती है दूसरे सम्यग्दर्शनादि सहित तपश्चरण करने से कर्म नष्ट हो जाते हैं अर्थात् क्षर जाते हैं ।।३।।

विशुद्ध्यति हुताशेन सदोषमपि काञ्चनम् ।
यद्वत्तथैव जीवोऽयं तप्यमानस्तपोऽग्निना ।।४।।

अर्थ—जैसे सदोष भी सुवर्ण (सोना) अग्नि में तपाने से विशुद्ध हो जाता है उसी प्रकार यह कर्मरूपी दोषों सहित जीव तपरूपी अग्नि में तपने से विशुद्ध और निर्दोष (कर्म रहित) हो जाता है ।।४।।

चमत्कारकरं धीरैर्बाह्यमाध्यामिकं तपः ।
तप्यते जन्मसन्तानशङ्कितैरार्यसूरिभिः ।।५।।

अर्थ—संसार की परिपाटी से भयभीत धीर और श्रेष्ठ मुनीश्वरगण, उक्त निर्जरा का एकमात्र कारण तप ही है ऐसा जानकर बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार का तप करतेहैं ।।५।।

तत्र बाह्यं तपः प्रोक्तमुपवासादिषड्विधम् ।
प्रायश्चित्तादिभिर्भेदैरन्तरङ्गं च षड्विधम् ।।६।।

अर्थ—उनमें से अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह तो बाह्य (बहिरंग) तप हैं और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अभ्यन्तर तप हैं। इनका विशेषरूप जानना हो तो तत्वार्थसूत्र की टीकाओं को देखना चाहिये ।।६।।

निर्वेदपदवीं प्राप्य तपस्यति यथा यथा ।
यमी क्षपति कर्माणि दुर्जयानि तथा तथा ।।७।।

अर्थ—संयमी मुनि वैराग्य पदवी को प्राप्त होकर जैसे जैसे (ज्यों-ज्यों) तप करते हैं तैसे-तैसे (त्यों-त्यों) दुर्जय कर्मों को क्षय करते हैं ।।७।।

ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्भवम् ।
सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुद्ध्यत्यङ्गी सुवर्णवत् ।।८।।

अर्थ—यद्यपि कर्म अनादिकाल से जीव के साथ लगे हुए हैं तथापि वे ध्यानरूपी अग्नि के स्पर्श होने पर तत्काल ही क्षय हो जाते हैं। उनके क्षय हो जाने से जैसे अग्नि के ताप से सुवर्ण शुद्ध होता है उसी प्रकार यह प्राणी भी तप से कर्म नष्ट होकर शुद्ध (मुक्त) हो जाता है ।।८।

अब निर्जरा का कथन पूर्ण करते हैं—

शिखरिणी—**तपस्तावद्बाह्यं चरति सुकृती पुण्यचरित-**
स्ततश्चात्माधीनं नियतविषयं ध्यानपरमम् ।
क्षपत्यन्तर्लीनं चिरतरचितं कर्मपटलं
ततो ज्ञानाम्भोधिं विशति परमानन्दनिलयम् ।।१२।।

अर्थ—पवित्र आचरण वाला सुकृती पुरुष प्रथम अनशनादि बाह्य तपों का आचरण करता है तत्पश्चात् आत्माधीन अभ्यन्तर तपों को आचरता है और उनमें नियत विषय वाले ध्यान नामक उत्कृष्ट तप को आचरता है। इस तप से चिरकाल से संचित किये हुए कर्मरूपी पटल को (घातिया कर्मों को) क्षय करता है और पश्चात् परमानन्द के (अतीन्द्रिय सुख के) घर ज्ञानरूपी समुद्र में प्रवेश करता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव दोनों प्रकार के तपों से, विशेषतया ध्यान नामक उत्कृष्ट तप से घातिया कर्मों को नष्ट करके केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार निर्जरा भावना का व्याख्यान किया है ।।१२।।

इसका संक्षिप्त आशय यह है कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से है। काललब्धि के निमित्त से यह आत्मा अपने स्वरूप को जब सम्हारे और तपश्चरण करके ध्यान में लीन हो तब संवररूप हो और जब यह आगामी नये कर्म नहीं बाँधे और पुराने कर्मों की निर्जरा करे तब मोक्ष को प्राप्त हो।

दोहा—**संवरमय है आतमा, पूर्व कर्म झड़ जाय ।**
निजस्वरूप को पाय कर, लोकशिखर जब थाय ।।९।।
इति निर्जराभावना।।९।।

अथ धर्मभावना लिख्यते

आगे धर्मभावना का व्याख्यान करते हैं—

पवित्रीक्रियते येन येनैवोद्धियते जगत् ।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै ।।१।।

अर्थ—जिस धर्म से जगत पवित्र किया जाता है तथा उद्धार किया जाता है और जो दयारूपी रस से आर्द्रित (गीला) और हरा है उस धर्मरूपी कल्पवृक्ष के लिये मेरा नमस्कार है। इस प्रकार आचार्य महाराज ने धर्म को (माहात्म्य कथनपूर्वक) नमस्कार किया है ।।१।।

दशलक्ष्मयुतः सोऽयं जिनैर्धर्मः प्रकीर्तितः ।
यस्यांशमपि संसेव्य विन्दन्ति यमिनः शिवम् ।।२।।

अर्थ—वह धर्म जिसके अंशमात्र को भी सेवन करके संयमी मुनि मुक्ति को प्राप्त होते हैं, उसे जिनेन्द्र भगवान ने दश लक्षणयुक्त कहा है ।।२।।

न सम्यग्गदितुं शक्यं यत्स्वरूपं कुदृष्टिभिः ।
हिंसाक्षपोषकैः शास्त्रैरतस्तैस्तन्निगद्यते ।।३।।

अर्थ—धर्म का स्वरूप मिथ्यादृष्टियों तथा हिंसा और इन्द्रिय विषय पोषण करने वाले शास्त्रों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जा सकता है। इस कारण इस धर्म का वास्तविक स्वरूप हम कहते हैं ।।३।।

चिन्तामणिर्निधिर्दिव्यः स्वर्धेनुः कल्पपादपाः ।
धर्मस्यैते श्रिया सार्द्धं मन्ये भृत्याश्चिरन्तनाः ।।४।।

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि लक्ष्मीसहित चिन्तामणि, दिव्य नवनिधि, कामधेनु और कल्पवृक्ष, ये सब धर्म के चिरकाल से किंकर (सेवक) हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।४।।

धर्मो नरोरगाधीशनाकनायकवाञ्छिताम् ।
अपि लोकत्रयीपूज्यां श्रियं दत्ते शरीरिणाम् ।।५।।

अर्थ—धर्म जीवों को चक्रवर्ती, धरणीन्द्र तथा देवेन्द्रों द्वारा वांछित और त्रैलोक्यपूज्य तीर्थंकर की लक्ष्मी को देता है ।।५।।

धर्मो व्यसनसंपाते पाति विश्वं चराचरम् ।
सुखामृतपयः पूरैः प्रीणयत्यखिलं जगत् ।।६।।

अर्थ— धर्म कष्ट के आने पर समस्त जगत के त्रस, स्थावर जीवों की रक्षा करता है और सुखरूपी अमृत के प्रवाहों से समस्त जगत को तृप्त करता है ।।६।।

पर्जन्यपवनार्केन्दुधराम्बुधिपुरन्दराः ।
अमी विश्वोपकारेषु वर्त्तन्ते धर्मरक्षिताः ।।७।।

अर्थ— मेघ, पवन, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, समुद्र और इन्द्र ये सम्पूर्ण पदार्थ जगत के उपकाररूप प्रवर्तते हैं और वे सब ही धर्म द्वारा रक्षा किये हुए प्रवर्तते हैं। धर्म के बिना ये कोई भी उपकारी नहीं होते हैं ।।७।।

मन्येऽसौ लोकपालानां व्याजेनाव्याहतक्रमः ।
जीवलोकोपकारार्थं धर्म एव विजृम्भितः ।।८।।

अर्थ— आचार्य महाराज ऐसा मानते हैं कि इन्द्रादिक, लोकपाल अथवा राजादिकों के व्याज से (बहाने से) लोकों के उपकारार्थ यह धर्म ही अव्याहत फैल रहा है ।।८।।

न तत्त्रिजगतीमध्ये भुक्तिमुक्त्योर्निबन्धनम् ।
प्राप्यते धर्मसामर्थ्यान्न यद्यमितमानसैः ।।९।।

अर्थ— इस तीन जगत में भोग और मोक्ष का ऐसा कोई भी कारण नहीं है जिसको धर्मात्मा पुरुष धर्म की सामर्थ्य से न पाते हों अर्थात् धर्मसामर्थ्य से समस्त मनोवांछित पद को प्राप्त होते हैं ।।९।।

नमन्ति पादराजीवराजिकां नतमौलयः ।
धर्मैकशरणीभूतचेतसां त्रिदशेश्वराः ।।१०।।

अर्थ— जिनके चित्त में धर्म ही एक शरणभूत है, उनके चरणकमलों की पंक्ति को इन्द्रगण भी नम्रीभूत मस्तक से नमस्कार करते हैं।

भावार्थ— धर्म के माहात्म्य से जब तीर्थंकर पदवी प्राप्त होती है तब इन्द्र भी आकर नमस्कार करते हैं ।।१०।।

धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः ।
अनाथवत्सलः सोऽयं संत्राता कारणं विना ।।११।।

अर्थ— धर्म गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बांधव है, हितू है और धर्म ही बिना कारण अनाथों की प्रीतिपूर्वक रक्षा करने वाला है। इस प्राणी को धर्म के अतिरिक्त और कोई भी शरण देने वाला नहीं है ।।११।।

धत्ते नरकपाताले निमज्जज्जगतां त्रयम् ।
योजयत्यपि धर्मोऽयं सौख्यमत्यक्षमङ्गिनां ।।१२।।

अर्थ— यह धर्म, नरकों के नीचे जो निगोद स्थान है उसमें पड़ते हुए जगत्त्रय को

धारण करता है— अवलम्बन देकर बचाता है तथा जीवों को अतीन्द्रिय सुख भी प्रदान करता है। ।।१२।।

नरकान्धमहाकूपे पततां प्राणिनां स्वयम् ।
धर्म एव स्वसामर्थ्याद्दत्ते हस्तावलम्बनम् ।।१३।।

अर्थ— नरकरूपी महा अंधकूप में स्वयं गिरते हुए जीवों को धर्म ही अपने सामर्थ्य से हस्तावलम्बन (हाथ का सहारा) देकर बचाता है ।।१३।।

महातिशयसम्पूर्णम् कल्याणोद्दाममन्दिरम् ।
धर्मो ददाति निर्विघ्नं श्रीमत् सर्वज्ञवैभवम् ।।१४।।

अर्थ— धर्म, महाअतिशय से पूर्ण, कल्याणों के उत्कट निवासस्थान और निर्विघ्न ऐसे लक्ष्मी सहित सर्वज्ञ भगवान के वैभव को देता है अर्थात् तीर्थंकर पदवी को प्राप्त कराता है ।।१४।।

याति सार्द्धं तथा पाति करोति नियतं हितम् ।
जन्मपङ्कात्समुद्धृत्य स्थापयत्यमले पथि ।।१५।।

अर्थ— धर्म परलोक में प्राणी के साथ जाता है, उसकी रक्षा करता है, नियम से उसका हित करता है तथा संसाररूपी कर्दम से उसे निकालकर निर्मल मोक्षमार्ग में स्थापन करता है ।।१५।।

न धर्मसदृशः कश्चित्सर्वाभ्युदयसाधकः ।
आनन्दकुञ्जकन्दश्च हितः पूज्यः शिवप्रदः ।।१६।।

अर्थ— इस जगत में धर्म के समान अन्य कोई समस्त प्रकार के अभ्युदय का साधक नहीं है। यह मनोवांछित सम्पदा का देने वाला है। आनन्दरूपी वृक्ष का कन्द है अर्थात् आनन्द के अंकुर इससे ही उत्पन्न होते हैं तथा हितरूप, पूजनीय और मोक्ष का देने वाला भी यही है ।।१६।।

व्यालानलोरगव्याघ्रद्विपशार्दूलराक्षसाः ।
नृपादयोऽपि द्रुह्यन्ति न धर्माधिष्ठितात्मने ।।१७।।

अर्थ— जो धर्म से अधिष्ठित (सहित) आत्मा है, उसके साथ सर्प, अग्नि, विष, व्याघ्र, हस्ती, सिंह, राक्षस तथा राजादिक भी द्रोह नहीं करते हैं अर्थात् यह धर्म इन सबसे रक्षा करता है अथवा धर्मात्माओं के ये सब रक्षक होते हैं ।।१७।।

निःशेषं धर्मसामर्थ्यं न सम्यग्वक्तुमीश्वरः ।
स्फुरद्वक्त्रसहस्रेण भुजङ्गेशोऽपि भूतले ।।१८।।

अर्थ— आचार्य महाराज कहते हैं कि धर्म का समस्त सामर्थ्य भले प्रकार कहने

को स्फुरायमान सहस्र मुख वाला नागेन्द्र भी इस भूतल में समर्थ नहीं है। फिर हम कैसे समर्थ हो सकते हैं ? ।।१८।।

धर्मधर्मेति जल्पन्ति तत्त्वशून्याः कुदृष्टयः ।
वस्तुतत्त्वं न बुध्यन्ते तत्परीक्षाऽक्षमा यतः ।।१९।।

अर्थ—तत्त्व के यथार्थ ज्ञान से शून्य मिथ्यादृष्टि 'धर्म-धर्म' ऐसा तो कहते हैं परन्तु वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते क्योंकि वे उसकी परीक्षा करने में असमर्थ हैं।

भावार्थ—नाममात्र को 'धर्म धर्म' ऐसा तो कहते हैं परन्तु वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाने बिना सत्य की परीक्षा कैसे हो ? यह परीक्षा जिनागम से ही हो सकती है अतः जिनागम में जो धर्म कहा है, उसे कहते हैं ।।१९।।

तितिक्षा मार्दवं शौचमार्जवं सत्यसंयमौ ।
ब्रह्मचर्यं तपस्त्यागाकिञ्चन्यं धर्म उच्यते ।।२०।।

अर्थ—१-क्षमा, २-मार्दव, ३-शौच, ४-आर्जव, ५-सत्य, ६-संयम, ७-ब्रह्मचर्य, ८- तप, ९-त्याग और १०-आकिंचन्य, ये दस प्रकार के धर्म हैं। इनका विशेष स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं से जानना चाहिये ।।२०।।

आर्या—**यद्यत्स्वस्यानिष्टं तत्तद्वाक्चित्तकर्मभिः कार्यम् ।**
स्वप्नेऽपि नो परेषामिति धर्मस्याग्रिमं लिङ्गम् ।।२१।।

अर्थ—धर्म का मुख्य (प्रधान) चिह्न यह है कि जो-जो क्रियायें अपने को अनिष्ट (बुरी) लगती हों, सो-सो अन्य के लिये मन-वचन-काय से स्वप्न में भी नहीं करनी चाहिये ।।२१।।

अब धर्मभावना का व्याख्यान पूर्ण करते हुए सामान्यता से कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम्—

धर्मः शर्मः भुजङ्गपुङ्गवपुरीसारं विधातुं क्षमो
धर्मः प्रापितमर्त्यलोकविपुलप्रीतिस्तदाशंसिनां ।
धर्मः स्वर्नगरीनिरन्तरसुखास्वादोदयस्यास्पदम्
धर्मः किं न करोति मुक्तिललनासंभोगयोग्यं जनम् ।।२२।।

अर्थ—यह धर्म धर्मात्मा पुरुषों को धरणीन्द्र की पुरी के सारसुख को करने में समर्थ है तथा यह धर्म उस धर्म के वांछक और उसके पालने वाले पुरुषों को मनुष्यलोक में विपुल प्रीति (सुख) प्राप्त कराता है और यह धर्म स्वर्गपुरी के निरन्तर सुखास्वाद के उदय का स्थान है तथा यह धर्म ही मनुष्य को मुक्तिस्त्री से संभोग करने के योग्य कराता है। धर्म और क्या-क्या नहीं कर सकता ? ।।२२।।

मालिनी—**यदि नरकनिपातस्त्यक्तुमत्यन्तमिष्ट-**
स्त्रिदशपतिमहर्द्धिं प्राप्तुमेकान्ततो वा ।
यदि चरमपुमर्थः प्रार्थनीयस्तदानीं
किमपरमभिधेयं नाम धर्मं विधत्त ।।२३।।

अर्थ—हे आत्मन्! यदि तुझे नरक निपात का छोड़ना परम इष्ट है अथवा इन्द्र का महान विभव पाना एकान्त ही इष्ट है, यदि चारों पुरुषार्थों में से अन्त का पुरुषार्थ (मोक्ष) प्रार्थनीय ही है, तो और विशेष क्या कहा जाए, तू एकमात्र धर्म का सेवन कर क्योंकि धर्म से ही समस्त प्रकार के अनिष्ट नष्ट होकर समस्त प्रकार के इष्ट की प्राप्ति होती है। इस प्रकार धर्मभावना का व्याख्यान पूर्ण किया ।।२३।।

इसका संक्षिप्त आशय यह है कि जिनागम में धर्म चार प्रकार का वर्णन किया गया है अर्थात् १-वस्तुस्वभावरूप, २-उत्तमक्षमादि दशरूप, ३-रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) रूप और ४-दयामय। निश्चय व्यवहाररूप नय से साधन किया हुआ यह धर्म एकरूप तथा अनेकरूप सधता है। यहाँ व्यवहारनय की प्रधानता से वर्णन किया गया है अर्थात् धर्म का स्वरूप, महिमा तथा फल अनेक प्रकार से वर्णन किया जाता है, सो उसको विचारकर धर्म की भावना निरन्तर चित्त में रखनी चाहिये।

दोहा—**दर्श ज्ञानमय चेतना, आतमधर्म बखानि ।**
दया-क्षमादिक रतनत्रय, यामें गर्भित जानि ।।१०।।
इति धर्मभावना।।१०।।

अथ लोकभावना लिख्यते

अब लोकभावना का व्याख्यान करते हैं। प्रथम लोक का स्वरूप कहते हैं—

यत्र भावा विलोक्यन्ते ज्ञानिभिश्चेतनेतराः ।
जीवादयः स लोकः स्यात्ततोऽलोको नभः स्मृतः ।।१।।

अर्थ—जितने आकाश में जीवादिक चेतन-अचेतन पदार्थ ज्ञानी पुरुषों ने देखे हैं, सो तो लोक है। उसके बाह्य जो केवल मात्र आकाश है, उसे अलोक व अलोकाकाश कहते हैं ।।१।।

वेष्टितः पवनैः प्रान्ते महावेगैर्महाबलैः ।
त्रिभिस्त्रिभुवनाकीर्णो लोकस्तालतरुस्थितिः ।।२।।

अर्थ—तीन भुवन सहित यह लोक अन्त में सब तरफ से अतिशय वेग वाले और अतिशय बलिष्ठ तीन वातवलयों से वेष्टित है और ताड़ वृक्ष के आकार सरीखा है अर्थात् नीचे से चौड़ा, बीच में सरल तथा अन्त में विस्ताररूप है ।।२।।

निष्पादितः स केनापि नैव नैवोद्धृतस्तथा ।
न भग्नः किन्त्वनाधारो गगने स स्वयं स्थितः ।।३।।

अर्थ—यह लोक किसी के द्वारा बनाया नहीं गया है अर्थात् अनादिनिधन है। भिन्न धर्मीगण इसे ब्रह्मादिक का बनाया हुआ कहते हैं, सो मिथ्या है तथा किसी से धारण किया हुआ व थामा हुआ हो, सो भी नहीं है। अन्यमती कच्छप की पीठ पर अथवा शेषनाग के फण पर ठहरा हुआ कहते हैं, यह उनका भ्रम है। यदि कोई आशंका करे कि बिना आधार के आकाश में कैसे ठहरेगा, भग्न हो जायेगा ? तो उत्तर देना चाहिये कि निराधार होने पर भी भग्न नहीं होता अर्थात् आकाश में वातवलय के आधार से स्वयमेव स्थित है ।।३।।

अनादिनिधनः सोऽयं स्वयं सिद्धोऽप्यनश्वरः ।
अनीश्वरोऽपि जीवादिपदार्थैः संभृतो भृशम् ।।४।।

अर्थ—यद्यपि यह लोक अनादिनिधन है, स्वयंसिद्ध है, अविनाशी है और इसका कोई ईश्वर, स्वामी व कर्त्ता नहीं है; तथापि जीवादिक पदार्थों से भरा हुआ है। अन्यमती लोक-रचना की अनेक प्रकार की कल्पनायें करते हैं, वे सब ही सर्वथा मिथ्या हैं ।।४।।

अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः ।
मृदङ्गसदृशश्चाग्रे स्यादित्थं स त्रयात्मकः ।।५।।

अर्थ—यह लोक नीचे तो वेत्रासन अर्थात् मोढ़े के आकार का है अर्थात् नीचे से चौड़ा है, पीछे ऊपर-ऊपर घटता आया है और बीच में झालर के जैसा है तथा ऊपर मृदंग के समान अर्थात् दोनों तरफ सकरा और बीच में चौड़ा है। इस प्रकार तीन स्वरूपात्मक यह लोक स्थित है ।।५।।

यत्रैते जन्तवः सर्वे नानागतिषु संस्थिताः ।
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते कर्मपाशवशंगताः ।।६।।

अर्थ—इस लोक में ये सब प्राणी नाना गतियों में संस्थित अपने-अपने कर्मरूप फाँसी के वशीभूत होकर मरते तथा उपजते रहते हैं ।।६।।

अब लोकभावना का व्याख्यान पूर्ण करते हुए सामान्यता से कहते हैं—

मालिनी—**पवनवलयमध्ये संभृतोऽत्यन्तगाढं**
स्थितिजननविनाशालिङ्गितैर्वस्तुजातैः ।
स्वयमिह परिपूर्णोऽनादिसिद्धः पुराणः
कृतिविलयविहीनः स्मर्यतामेष लोकः ।।७।।

अर्थ—इस लोक को ऐसा चिंतवन करना चाहिये कि तीन वलयों के मध्य में स्थित है। पवनों से अतिशय गाढ़रूप घिरा हुआ है। इधर-उधर चलायमान नहीं होता और

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित वस्तु-समूहों से अनादिकाल से स्वयमेव भरा हुआ है अर्थात् अनादिसिद्ध है, किसी का रचा हुआ नहीं है इसी कारण पुराण है तथा उत्पत्ति और प्रलय से रहित है। इस प्रकार लोक को स्मरण करते रहो, यह लोकभावना का उपदेश है। इसका विशेष स्वरूप त्रैलोक्यसारादि ग्रन्थों से जानना चाहिये। किसी को लोक के अनादिनिधन होने में (अकर्तापन में) संदेह हो तो उसे परीक्षामुख की प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड-टीका तथा अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिकादि ग्रन्थों को देखना चाहिये। इनमें कर्तृवाद का विद्वानों के देखने योग्य विशेष प्रकार से (युक्ति प्रमाणों से) निराकरण किया गया है ।।७।।

इस भावना का संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि यह लोक जीवादिक द्रव्यों की रचना है जो (समस्त द्रव्य) अपने-अपने स्वभाव को लिये हुए भिन्न-भिन्न तिष्ठते हैं। उनमें आप एक आत्मद्रव्य है। उसका स्वरूप यथार्थ जानकर, अन्य पदार्थों से ममता छोड़कर आत्मभावना करना ही परमार्थ है। व्यवहार से समस्त द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप जानना चाहिये जिससे मिथ्याश्रद्धान दूर हो जाता है। इस प्रकार लोकभावना का चिंतवन करना चाहिये।

दोहा—**लोकस्वरूप विचारिके, आतमरूप निहारि ।**
परमारथ व्यवहार [1]मुणि, मिथ्याभाव निवारि ।।११।।
इति लोकभावना।।११।।

अथ बोधिदुर्लभ भावना लिख्यते

आगे बोधिदुर्लभ भावना का व्याख्यान करते हैं, जिसमें निगोद से लेकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति पर्यन्त की उत्तरोत्तर दुर्लभता दिखाते हैं—

दुरन्तदुरितारातिपीडितस्य प्रतिक्षणम् ।
कृच्छ्रान्नरकपातालतलाज्जीवस्य निर्गमः ।।१।।

अर्थ—बुरा है अन्त जिसका, ऐसे पापरूपी वैरी से निरन्तर पीड़ित इस जीव का प्रथम तो नरकों के नीचे निगोदस्थान है, सो वहाँ के नित्यनिगोद से निकलना अत्यन्त कठिन है ।।१।। तथा—

तस्माद्यदि विनिष्क्रान्तः स्थावरेषु प्रजायते ।
त्रसत्वमथवाप्नोति प्राणी केनापि कर्मणा ।।२।।

अर्थ—उस नित्यनिगोद से निकला तो फिर पृथ्वीकायादि स्थावर जीवों में उपजता है और किसी पुण्यकर्म के उदय से स्थावर काय से त्रसगति पाता है ।।२।।

---

१. (ज्ञात्वा) समझकर ।

और—

यत्पर्याप्तस्तथा संज्ञी पञ्चाक्षोऽवयवान्वितः ।
तिर्यक्ष्वपि भवत्यङ्गी तन्न स्वल्पाशुभक्षयात् ।।३।।

अर्थ—कदाचित् त्रसगति भी पावे तो तिर्यंच योनि में पर्याप्तता (पूर्णावयवसंयुक्तत्व) पाना कुछ न्यून पाप के क्षय से नहीं होता है अर्थात् बहुत पाप के क्षय होने पर पाता है। उसमें भी मन सहित पंचेन्द्रिय पशु का शरीर पाना बहुत ही दुर्लभ है, तिस पर भी सम्पूर्ण अवयव पाना अतिशय दुर्लभ है ।।३।।

नरत्वं यद्गुणोपेतं देशजात्यादिलक्षितम् ।
प्राणिनः प्राप्नुवन्त्यत्र तन्मन्ये कर्मलाघवात् ।।४।।

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि ये प्राणीगण संसार में मनुष्यपना और उसमें गुणसहितपना तथा उत्तम देश, जाति, कुल आदि साहित्य उत्तरोत्तर कर्मों के क्षय से पाते हैं। ये बहुत दुर्लभ हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ।।४।।

आयुः सर्वाक्षसामग्री बुद्धिः साध्वी प्रशान्तता ।
यत्स्यात्तत्काकतालीयं मनुष्यत्वेऽपि देहिनाम् ।।५।।

अर्थ—जीवों के देश, जाति, कुलादि सहित मनुष्यपना होते हुए भी दीर्घायु, पाँचों इन्द्रियों की पूर्ण सामग्री, विशिष्ट तथा उत्तम बुद्धि, शीतल मंद कषायरूप परिणामों का होना काकतालीयन्याय के समान दुर्लभ जानना चाहिये। जैसे किसी समय ताल का फल पक कर गिरे और उस ही समय काक का आना हो एवं वह उस फल को आकाश में ही पाकर खाने लगे। ऐसा योग मिलना अत्यन्त कठिन है ।।५।।

ततो निर्विषयं चेतो यमप्रशमवासितम् ।
यदि स्यात्पुण्ययोगेन न पुनस्तत्त्वनिश्चयः ।।६।।

अर्थ—कदाचित् पुण्य के योग से उक्त सामग्री प्राप्त हो जावें तो विषयों से विरक्त वा व्रतरूप परिणाम तथा यम-प्रशमरूप शुद्ध भावों सहित चित्त का होना बड़ा कठिन है। कदाचित् पुण्य के योग से इनकी प्राप्ति हो जाये, तो तत्त्वनिर्णय होना अत्यन्त दुर्लभ है ।।६।।

अत्यन्तदुर्लभेष्वेषु दैवाल्लब्धेष्वपि क्वचित् ।
प्रमादात्प्रच्यवन्तेऽत्र केचित्कामार्थलालसाः ।।७।।

अर्थ—यद्यपि पूर्वोक्त सामग्री अत्यन्त दुर्लभ है तथापि यदि दैवयोग से प्राप्त हो जाय तो अनेक संसारी जीव प्रमाद के वशीभूत होकर काम और अर्थ में लुब्ध होकर सम्यग्मार्ग से च्युत हो जाते हैं और विषयकषाय में लग जाते हैं ।।७।।

मार्गमासाद्य केचिच्च सम्यग्रत्नत्रयात्मकम् ।
त्यजन्ति गुरुमिथ्यात्वविषव्यामूढचेतसः ।।८।।

अर्थ—कोई-कोई सम्यक् रत्नत्रय मार्ग को पाकर भी तीव्र-मिथ्यात्वरूप विष से व्यामूढ़ चित्त होते हुए सम्यग्मार्ग को छोड़ देते हैं। गृहीत मिथ्यात्व बड़ा बलवान है, जो उत्तम मार्ग मिले तो उसको भी छुड़ा देता है ।।८।।

स्वयं नष्टो जनः कश्चित्कश्चिन्नष्टश्च नाशितः ।
कश्चित्प्रच्यवते मार्गाच्चण्डपाषण्डशासनैः ।।९।।

अर्थ—कोई-कोई तो सम्यग्मार्ग से आप ही नष्ट हो जाते हैं। कोई अन्य मार्ग से च्युत हुए मनुष्यों के द्वारा नष्ट किये जाते हैं और कोई-कोई प्रचंड पाखंडियों के उपदेशे हुए मतों को देखकर मार्ग से च्युत हो जाते हैं ।।९।।

त्यक्त्वा विवेकमाणिक्यं सर्वाभिमतसिद्धिदम् ।
अविचारितरम्येषु पक्षेष्वज्ञः प्रवर्त्तते ।।१०।।

अर्थ—जो मार्ग से च्युत अज्ञानी है वह समस्त मनोवांछित सिद्धि के देने वाले विवेकरूपी चिन्तामणि रत्न को छोड़कर बिना विचार के रमणीक भासने वाले पक्षों में (मतों में) प्रवृत्ति करने लग जाता है।।१०।।

अविचारितरम्याणि शासनान्यसतां जनैः ।
अधमान्यपि सेव्यन्ते जिह्वोपस्थादिदण्डितैः ।।११।।

अर्थ—जो पुरुष जिह्वा तथा उपस्थादि इन्द्रियों से दंडित हैं, वे अविचार से रमणीक भासने वाले दुष्टों के चलाए हुए अधम मतों को भी सेवन करते हैं। विषयकषाय क्या-क्या अनर्थ नहीं कराते ? ।।११।।

सुप्रापं न पुनः पुंसां बोधिरत्नं भवार्णवे ।
हस्ताद्भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे ।।१२।।

अर्थ—यह जो बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप रत्नत्रय है, संसाररूपी समुद्र में प्राप्त होना सुगम नहीं है किन्तु अत्यन्त दुर्लभ है। इसको पाकर भी जो खो बैठते हैं, उनको हाथ में रखे हुए रत्न को बड़े समुद्र में डाल देने पर जैसे फिर मिलना कठिन है, उसी प्रकार सम्यग् रत्नत्रय का पाना दुर्लभ है ।।१२।।

अब इस भावना के कथन को पूर्ण करते हैं—

मालिनी—**सुलभमिह समस्तं वस्तुजातं जगत्या-**
मुरगसुरनरेन्द्रैः प्रार्थितं चाधिपत्यम्
कुलबलसुभगत्वोद्दामरामादि चान्यत्
किमुत तदिदमेकं दुर्लभं बोधिरत्नम् ।।१३।।

अर्थ—इस जगत में (त्रैलोक में) समस्त द्रव्यों का समूह सुलभ है तथा धरणीन्द्र, नरेन्द्र, सुरेन्द्रों द्वारा प्रार्थना करने योग्य अधिपतिपना भी सुलभ है क्योंकि ये सब ही कर्मों के उदय से मिलते हैं तथा उत्तम कुल, बल, सुभगता, सुन्दर स्त्री आदिक समस्त पदार्थ सुलभ हैं; किन्तु जगत्प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप बोधिरत्न अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकार बोधिदुर्लभभावना का व्याख्यान पूर्ण किया ।।२३।।

इसका संक्षिप्त आशय ऐसा है कि यदि परमार्थ से (निश्चय से) विचार किया जाए तो जो पराधीन वस्तु होती है वह दुर्लभ है और स्वाधीन वस्तु सुलभ है। यह बोधि (रत्नत्रय) आत्मा का स्वभाव है, स्वाधीन सम्पत्ति है। जब अपने स्वरूप को जाने तब अपने ही निकट है इसलिये दुर्लभ नहीं है किन्तु आत्मा जब तक अपने स्वरूप को नहीं जाने तब तक कर्म के आधीन है। इस अपेक्षा से अपना बोधिस्वभाव पाना दुर्लभ है और कर्मकृत सब ही पदार्थ संसार में सुलभ हैं। सो आचार्य महाराज ने व्यवहारनय की प्रधानता से बोधि की दुर्लभता वर्णन की है अर्थात् उत्तरोत्तर पर्यायें दुर्लभता से पाते-पाते बोधि के योग्य उत्तम पर्याय पाना दुर्लभ है। उसमें भी बोधि का पाना दुर्लभ है। इस बोधि को प्राप्त होकर प्रमादादि के वशीभूत होकर नहीं खो देना चाहिये, ऐसा उपदेश है।

दोहा—**बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं ।**
भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं ।।१२।।

इति बोधिदुर्लभभावना।।१२।।

अथोपसंहार

अब बारह भावनाओं का प्रकरण पूरा करते हैं और भावनाओं का फल तथा महिमा कहते हैं—

दीव्यन्नाभिरयं ज्ञानी भावनाभिर्निरन्तरम् ।
इहैवाप्नोत्यनातङ्कं सुखमत्यक्षमक्षयम् ।।१।।

अर्थ—इन बारह भावनाओं से निरन्तर रमते हुए ज्ञानीजन इसी लोक में रोगादिक की बाधारहित अतीन्द्रिय अविनाशी सुख को पाते हैं अर्थात् केवलज्ञानानन्द को पाते हैं ।।१।।

आर्या—**विध्याति कषायाग्निर्विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम् ।**
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात् ।।२।।

अर्थ—इन द्वादश भावनाओं के निरन्तर अभ्यास करने से पुरुषों के हृदय में कषायरूप अग्नि बुझ जाती है तथा परद्रव्यों के प्रति रागभाव गल जाता है और अज्ञानरूप अंधकार का विलय होकर ज्ञानरूप दीपक का प्रकाश होता है ।।२।।

शार्दूलविक्रीडितम्—

एता द्वादशभावनाः खलु सखे सख्योऽपवर्गश्रिय-
स्तस्याः सङ्गमलालसैर्घटयितुं मैत्रीं प्रयुक्ता बुधैः ।
एतासु प्रगुणीकृतासु नियतं मुक्त्यङ्गना जायते
सानन्दा प्रणयप्रसन्नहृदया योगीश्वराणां मुदे ।।३।।

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि मित्र! ये बारह भावनायें निश्चय से मुक्तिरूपी लक्ष्मी की सखी हैं। इन्हें मुक्तिरूपी लक्ष्मी के संगम की लालसा करने वाले पंडितगणों ने मित्रता करने के अर्थ प्रयोगरूप कही हैं। इन भावनाओं के अभ्यास करने से मुक्तिरूपी स्त्री आनन्द सहित स्नेहरूप प्रसन्न हृदय होकर योगीश्वरों को आनन्ददायिनी होती है।

भावार्थ—पंडितों ने भावनाओं को मोक्ष की सखी के तुल्य कहा है। योगीश्वर इनको भाते हैं तो ये उन्हें मुक्तिरूपी स्त्री से मिला देती हैं। इस प्रकार भावनाओं का वर्णन किया है ।।३।।

इसका अभिप्राय यह है कि इस ग्रन्थ में ध्यान का अधिकार है और ध्यान मोक्ष का कारण है। जब तक जीवों की संसार में प्रीति रहती है; तब तक उनका ध्यान के सन्मुख होना कठिन है और बारह भावनायें संसार, देह, भोगों से वैराग्य उपजाने के लिये निमित्त हैं अतः इनका वर्णन पहले ही किया गया है।

प्रथम—तो यह प्राणी अनादिकाल से पर्यायबुद्धि है, इसे द्रव्यबुद्धि कभी भी नहीं हुई। इस कारण द्रव्यबुद्धि करने के लिये पर्याय को अनित्य दिखलाया है क्योंकि इससे वैराग्य होकर ध्यान की रुचि होती है।

दूसरे—यह प्राणी जब तक अज्ञान से पर का शरण चाहता रहता है तब तक इसके ध्यान नहीं होता है इस कारण पर का शरण छुड़ा कर अपना ही शरण बताया है।

तीसरे—संसार में दुःख ही दुःख दिखाये हैं।

चौथे—अपना अकेलापन दिखाया है। जगत में कोई भी संगी साथी नहीं है।

पाँचवे—अन्य के संग से मोह उत्पन्न होता है अतः अपने को सबसे भिन्न बताया है।

छठे—शरीर की अशुचि का विचार करने से शरीर का मोह दूर होकर आत्मसन्मुख वृत्ति होती है।

सातवें—आस्रव से कर्मबन्ध होना बताया है।

आठवें—संवर से कर्मों का रुकना और ध्यान की सिद्धि बताई है।

नवमें—निर्जरा का कारण ध्यान तथा निर्जरा से ध्यान की वृद्धि होना बताया है।

दसवें—लोक का स्वरूप जानने से मिथ्याश्रद्धान नष्ट होता है। इस कारण लोक

का स्वरूप बताया है।

ग्यारहवें—धर्म ध्यान का स्वरूप है अतः धर्म का स्वरूप बताया है।

बारहवें—बोधिदुर्लभता बताई है और इसका संयोग मिलने से प्रमादी नहीं होना चाहिये ऐसा उपदेश किया है।

इस प्रकार बारह भावनाओं का स्वरूप जानकर इनकी निरन्तर भावना भाने से ध्यान की रुचि होती है तथा ध्यान में स्थिर होने से केवलज्ञान उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

दोहा—**ऐसे भावे भावना, शुभ वैराग्य जु पाय ।**
ध्यान करे निज रूप को, ते शिव पहुँचे धाय ।।२।।

इति श्री ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते
द्वादशभावनाप्रकरणम् ।।२।।

तत्वार्थसूत्र

(श्रीपूज्यपादस्वामीकृत सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ से)

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः।।७।।

इमानि शरीरेन्द्रियविषयोपभोगद्रव्याणि समुदयरूपाणि जलबुद्बुद्वदनवस्थित-स्वभावानि गर्भादिष्ववस्थाविशेषेषु सदोपलभ्यमानसंयोगविपर्ययाणि, मोहादत्राज्ञो नित्यतां मन्यते। न किंचित्संसारे समुदितं ध्रुवमस्ति आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावादन्यदिति चिन्तनमनित्यतानुप्रेक्षा। एवं [१]ह्यस्य भव्यस्य चिन्तयतस्तेष्वभिष्वङ्गाभावाद् भुक्तेज्झित-गन्धमाल्यादिष्विव वियोगकालेऽपि विनिपातो नोत्पद्यते।

यथा—मृगशावस्यैकान्ते बलवता क्षुधितेनामिषैषिणा व्याघ्रेणाभिभूतस्य न किंचिच्छरणमस्ति, तथा जन्मजरामृत्युव्याधिप्रभृतिव्यसनमध्ये परिभ्रमतो जन्तोः शरणं न विद्यते। परिपुष्टमपि शरीरं भोजनं प्रति सहायीभवति न व्यसनोपनिपाते। यत्नेन संचिता[२] अर्था अपि न भवान्तरमनुगच्छन्ति। संविभक्तसुखदुःखाः सुहृदोऽपि न मरणकाले परित्रायन्ते।

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्या तत्त्व का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षाएँ हैं।।७।।

ये समुदायरूप शरीर, इन्द्रिय विषय, उपभोग और परिभोग द्रव्य जल के बुलबुले के समान अनवस्थित स्वभाव वाले हैं तथा गर्भादि अवस्था विशेषों में सदा प्राप्त होने वाले संयोगों से विपरीत स्वभाव वाले हैं। मोहवश अज्ञ प्राणी इनमें नित्यता का अनुभव करता है पर वस्तुतः आत्मा के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगस्वभाव के सिवाय इस संसार में अन्य कोई भी पदार्थ ध्रुव नहीं है इस प्रकार चिन्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस भव्य के उन शरीरादि में आसक्ति का अभाव होने से भोगकर छोड़े हुए गन्ध और माला आदि के समान वियोग काल में भी सन्ताप नहीं होता है।

जिस प्रकार एकान्त में क्षुधित और माँस के लोभी बलवान व्याघ्र के द्वारा दबोचे गये मृगशावक के लिये कुछ भी शरण नहीं होता उसी प्रकार जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि आदि दुःखों के मध्य में परिभ्रमण करने वाले जीव का कुछ भी शरण नहीं है। परिपुष्ट हुआ

१. ह्यस्य चिन्त-मु., ता.। २. संचितोऽर्थोऽपि न भवान्तरमनुगच्छति मु०।

बान्धवाः समुदिताश्च रुजा परीतं न परिपालयन्ति। अस्ति चेत्सुचरितो धर्मो व्यसनमहार्णवे तरणोपायो भवति। मृत्युना नीयमानस्य सहस्रनयनादयोऽपि न शरणम्। तस्माद् भव्यसनसंकटे धर्म एव शरणं। सुहृदर्थोऽप्यनपायी, नान्यकिंचिच्छरणमिति भावना अशरणानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्याध्यवस्यतो नित्यमशरणोऽस्मीति भृशमुद्विग्नस्य सांसारिकेषु भावेषु ममत्वविगमो[१] भवति। भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीत एव मार्गे प्रयत्नो[२] भवति।

कर्मविपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। स पुरस्तात्पञ्चविधपरिवर्तनरूपेण व्याख्यातः। तस्मिन्ननेकयोनिकुलकोटिबहुशतसहस्रसंकटे संसारे परिभ्रमन् जीवः कर्मयन्त्र[३] प्रेरितः पिता भूत्वा भ्राता पुत्रः पौत्रश्च भवति। माता भूत्वा भगिनी भार्य दुहिता च भवति। स्वामी भूत्वा दासो भवति। दासो भूत्वा स्वाम्यपि भवति। नट इव रङ्गे। अथवा किं बहुना, स्वयमात्मनः पुत्रो भवतीत्येवमादि संसारस्वभावचिन्तनं संसारानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य भावयतः

शरीर ही भोजन के प्रति सहायक है, दुःखों के प्राप्त होने पर नहीं। यत्न से संचित किया हुआ धन भी भवान्तर में साथ नहीं जाता। जिन्होंने सुख और दुःख को समानरूप से बाँट लिया है ऐसे मित्र भी मरण के समय रक्षा नहीं कर सकते। मिलकर बन्धुजन भी रोग से व्याप्त इस जीव की रक्षा करने में असमर्थ होते हैं। यदि सुचरित धर्म हो तो वह ही दुःखरूपी महासमुद्र में तरने का उपाय हो सकता है। मृत्यु से ले जाने वाले इस जीव के सहस्रनयन आदि भी शरण नहीं हैं इसलिये संसार विपत्तिरूप स्थान में धर्म ही शरण है। वही मित्र है और वही कभी भी न छूटने वाला अर्थ है, अन्य कुछ शरण नहीं है, इस प्रकार की भावना करना ही अशरणानुप्रेक्षा है। इस प्रकार विचार करने वाले इस जीव के 'मैं सदा अशरण हूँ, इस तरह अतिशय उद्विग्न होने के कारण संसार के कारणभूत पदार्थों में ममता नहीं रहती और वह भगवान अरहंत सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग में ही प्रयत्नशील होता है।

कर्म के विपाक के वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना संसार है। उसका पहले पाँच प्रकार के परिवर्तनरूप से व्याख्यान कर आये हैं। अनेक योनि और कुल कोटि लाख से व्याप्त इस संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मयन्त्र से प्रेरित होकर पिता होकर भाई, पुत्र और पौत्र होता है। माता होकर भगिनी, भार्या और लड़की होता है। स्वामी होकर दास होता है तथा दास होकर स्वामी भी होता है। जिस प्रकार रंगस्थल में नट नाना रूप धारण करता है उस प्रकार यह होता है। अथवा बहुत कहने से क्या प्रयोजन, स्वयं अपना पुत्र होता है, इत्यादि रूप से संसार के स्वभाव का चिन्तन करना

१. ममत्वनिरासो भव-आ०, दि० १, दि० २, मु०, ना०।
२. मार्गे प्रतिपन्नो भव० आ०, दि० १, दि० २, मु०।
३. यन्त्रानुप्रेरितः।

संसारदुःखभयादुद्विग्नस्य ततो निर्वेदो भवति। निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय [१]प्रयतते।

जन्मजरामरणावृत्ति[२] महादुःखानुभवनं प्रति एक एवाहं न कश्चिन्मे स्वः परो वा विद्यते। एक एव जायेऽह[३]म्। एक एव म्रिये। न मे कश्चित् स्वजनः परजनो वा व्याधिजरा-मरणादीनि दुःखान्यपहरति। बन्धुमित्राणि स्मशानं[४] नातिवर्तन्ते। धर्म एव मे सहायः सदा अनपायीति चिन्तनमेकत्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य भावयतः स्वजनेषु प्रीत्यनुबन्धो न भवति। पराजनेषु च द्वेषानुबन्धो नोपजायते। ततो निःसङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव घटते।

शरीरादन्यत्वचिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा। तद्यथा — बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदा-दन्योऽहमैन्द्रियकं शरीर[५]मतीन्द्रियोऽहमज्ञं शरीरं ज्ञोऽहमनित्यं शरीरं नित्योऽहमाद्यन्त-वच्छरीरमनाद्यनन्तोऽहम्। बहूनि मे शरीरशतसहस्राण्यतीतानि संसारे परिभ्रमतः। स एवाहमन्यस्तेभ्य इत्येवं मे किमङ्ग, पुनर्बाह्येभ्यः परिग्रहेभ्यः इत्येवं ह्यस्य मनः समादधानस्य शरीरादिषु स्पृहा नोत्पद्यते। ततस्तत्त्वज्ञानभावनापूर्वके वैराग्यप्रकर्षे सति आत्यन्तिकस्य

संसारानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करते हुए संसार के दुःख के भय से उद्विग्न हुए इसके संसार से निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर संसार का नाश करने के लिये प्रयत्न करता है।

जन्म, जरा और मरण की आवृत्तिरूप महादुःख का अनुभवन करने के लिये अकेला मैं ही हूँ, न कोई मेरा स्व है और न पर है, अकेला ही मैं जन्मता हूँ और अकेला ही मरता हूँ। मेरा कोई स्वजन या परजन व्याधि, जरा और मरण आदि दुःखों को दूर नहीं करता है। बन्धु और मित्र श्मशान से आगे नहीं जाते। धर्म ही मेरा कभी साथ न छोड़ने वाला सदा काल सहायक है, इस प्रकार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस जीव के स्वजनों में प्रीति का अनुबन्ध नहीं होता और परजनों में द्वेष का अनुबन्ध नहीं होता इसलिये निःसंगता को प्राप्त होकर मोक्ष के लिये ही प्रयत्न करता है।

शरीर से अन्यत्व का चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है — यथा बन्ध के प्रति अभेद होने पर भी लक्षण के भेद से 'मैं' अन्य हूँ। शरीर ऐन्द्रियिक है, मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूँ। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ। शरीर आदि-अन्त वाला है और मैं अनाद्यनन्त हूँ। संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरे लाखों शरीर अतीत हो गये। उनसे भिन्न वह ही मैं हूँ। इस प्रकार शरीर से भी जब मैं अन्य हूँ तब हे वत्स! मैं बाह्य पदार्थों से भिन्न होऊँ तो इसमें क्या आश्चर्य ? इस प्रकार मन को समाधानयुक्त करने वाले शरीरादिक में

१. प्रतियतते मु०। २. मरणानुवृत्ति-मु०। ३. जायेऽहम्। एक ता०। ४. स्मशानात् नाति-ता०।
५. मनिन्द्रियो मु०, दि० १, दि० २, ता०।

मोक्षसुखस्या[1]वाप्तिर्भवति।

शरीरमिदमत्यन्ताशुचियोनि[2] शुक्रशोणिताशुचिसंवर्धितमवस्करवदशुचिभाजनं त्वङ्मात्रप्रच्छादितमतिपूतिरसनिष्यन्दिस्रोतोबिलमङ्गारवदात्मभावमाश्रितमप्याश्वेवापादयति। स्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवासमाल्यादिभिरपि न शक्यमशुचित्वमपहर्तुमस्य। सम्यग्दर्शनादि पुनर्भाव्यमानं जीवस्यात्यन्तिकीं शुद्धिमाविर्भावयतीति तत्त्वतो भावनमशुचित्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य संस्मरतः शरीरनिर्वेदो भवति। निर्विण्णश्च जन्मोदधितरणाय चित्तं समाधत्ते।

आस्रवसंवरनिर्जराः पूर्वोक्ता अपि इहोपन्यस्यन्ते[3]तद्गतगुणदोषभावनार्थम्। तद्यथा— आस्रवा इहामुत्रापाययुक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रियकषाया व्रतादयः। तत्रेन्द्रियाणि तावत्स्पर्शनादीनि वनगजवायसपन्नगपतङ्गहरिणादीन् व्यवसनार्णवमवगाहयन्ति तथा

स्पृहा उत्पन्न नहीं होती है और इससे तत्त्वज्ञान की भावनापूर्वक वैराग्य का प्रकर्ष होने पर आत्यन्तिक मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

यह शरीर अत्यन्त अशुचि पदार्थों का योनि है। शुक्र और शोणितरूप अशुचि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त हुआ है, शौचगृह के समान अशुचि पदार्थों का भाजन है। त्वचा मात्र से आच्छादित है। अति दुर्गन्ध रस को बहाने वाला झरना है। अंगार के समान अपने आश्रय में आये हुए पदार्थ को भी शीघ्र ही नष्ट करता है। स्नान, अनुलेपन, धूप की मालिश और सुगन्धिमाला आदि के द्वारा भी इसकी अशुचिता को दूर कर सकना शक्य नहीं है किन्तु अच्छी तरह भावना किये गये सम्यग्दर्शन आदिक जीव की आत्यन्तिक शुद्धि को प्रकट करते हैं, इस प्रकार वास्तविक रूप से चिन्तन करना अशुचि अनुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाला इसके शरीर से निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर जन्मोदधि को तरने के लिये चित्त को लगाता है।

आस्रव, संवर और निर्जरा का कथन पहले कर आये हैं तथापि उनके गुण और दोषों का विचार करने के लिये यहाँ उनका फिर से उपन्यास किया गया है। यथा— आस्रव इस लोक और परलोक में दुःखदायी है। महानदी के प्रवाह के वेग के समान तीक्ष्ण है तथा इन्द्रिय, कषाय और अव्रतरूप हैं। उनमें से स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ वनगज, कौआ, सर्प, पतंग और हरिण आदि को दुःखरूप समुद्र में अवगाहन कराती हैं। कषाय आदिक भी इस लोक में वध, बन्ध, अपयश और क्लेशादिक दुःखों को उत्पन्न करते हैं

१. स्याप्तिर्भ-मु०।
२. -न्ताशुचिशुक्रशोणितयोन्यशुचिसं-मु०।
-न्ताशुचिपूतिशुक्रशोणितसं-दि० १।
-न्ताशुचिशुक्रशोणितसं-दि० २।
३. तद्गुण-मु०।

कषायादयोऽपीह वधबन्धापयश[1]परिक्लेशादीन् जनयन्ति। अमुत्र च नानागतिषु बहुविधदुःखप्रज्वलितासु परि[2]भ्रमयन्तीत्येवमास्रवदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य चिन्तयतः क्षमादिषु श्रेयस्त्वबुद्धिर्न प्रच्यवते। सर्व एते आस्रवदोषाः कूर्मवत्संवृतात्मनो न भवन्ति।

यथा महार्णवे नावो [3]विवरपिधानेऽसति क्रमात् स्रतजलाभिप्लवे सति तदाश्रयाणां विनाशोऽवश्यंभावी, छिद्रपिधाने च निरुपद्रवमभिलषितदेशान्तरप्रापणं, तथा कर्मागमद्वारसंवरणे सति नास्ति श्रेयःप्रतिबन्ध इति संवरगुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य चिन्तयतः संवरे नित्योद्युक्तता भवति। ततश्च निःश्रेयसपदप्राप्तिरिति।

निर्जरा वेदनाविपाक[4] इत्युक्तम्। सा द्वेधा—अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति। तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा सा अकुशलानुबन्धा। परिषहजये कृते कुशलमूला सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति। इत्येवं निर्जराया गुणदोषभावनं निर्जरानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्यानुस्मरतः कर्मनिर्जरायै प्रवृत्तिर्भवति।

लोकसंस्थानादिविधिर्व्याख्यातः समन्तादनन्तस्यालोकाकाशस्य बहुमध्यदेशभाविनो

तथा परलोक में नाना प्रकार के दुःखों से प्रज्वलित नाना गतियों में परिभ्रमण कराते हैं। इस प्रकार आस्रव के दोषों का चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस जीव के क्षमादिक में कल्याणरूप बुद्धि का त्याग नहीं होता है तथा कछुए के समान जिसने अपनी आत्मा को संवृत कर लिया है उसके ये सब आस्रव के दोष नहीं होते हैं।

जिस प्रकार महार्णव में नाव के छिद्र के नहीं ढके रहने पर क्रम से झिरे हुए जल से व्याप्त होने पर उसके आश्रय से बैठे हुए मनुष्यों का विनाश अवश्यम्भावी है और छिद्र के ढके रहने पर निरुपद्रवरूप से अभिलषित देशान्तर का प्राप्त होना अवश्यम्भावी है उसी प्रकार कर्मागम के द्वार के ढके होने पर कल्याण का प्रतिबन्ध नहीं होता है। इस प्रकार संवर के गुणों का चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस जीव के संवर में निरन्तर उद्युक्तता होती है और इससे मोक्ष पद की प्राप्ति होती है।

वेदना विपाक का नाम निर्जरा है यह पहले कह आये हैं। वह दो प्रकार की है— अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियों में कर्मफल के विपाक से जायमान जो अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है वह अकुशलानुबन्धा है तथा परीषह के जीतने पर जो निर्जरा होती है वह कुशलमूला निर्जरा है। वह शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा होती है। इस प्रकार निर्जरा के गुण दोष का चिन्तन करना निर्जरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इसकी कर्मनिर्जरा के लिये प्रवृत्ति होती है।

१. -बन्धपरि-मु०, ता०। २. -तासु भ्रम-मु०। ३. विवरापिधाने सति मु०। ४. -पाकजा इत्यु-मु०।

लोकस्य संस्थानादिविधिर्व्याख्यातः। तत्स्वभावानुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्याध्यवस्यतस्तत्त्वज्ञान विशुद्धिर्भवति।

एकस्मिन्निगोतशरीरे जीवाः सिद्धानामनन्तगुणाः। एवं सर्वलोको निरन्तरं निचितः स्थावरैरतस्तत्र त्रसता वालुकासमुद्रे पतिता वज्रसिकताकणिकेव दुर्लभा। तत्र च विकलेन्द्रियाणां भूयिष्ठत्वात्पञ्चेन्द्रियता गुणेषु कृतज्ञतेव कृच्छ्रलभ्या। तत्र च तिर्यक्षु पशुमृगपक्षिसरीसृपादिषु बहुषु सत्सु मनुष्यभावश्चतुष्पथे रत्नराशिरिव दुरासदः। तत्प्रच्यवे च पुनस्तदुत्पत्तिर्दग्धतरुपुद्गलतद्भावोपपत्तिवद् दुर्लभा। तल्लाभे च देशकुलेन्द्रियसंपन्नीरोगत्वान्युत्तरोत्तरनोऽतिदुर्लभानि। सर्वेष्वपि तेषु लब्धेषु सद्धर्मप्रतिलम्भो यदि न स्याद् व्यर्थं जन्म वदनमिव दृष्टिविकलम्। तमेवं[1] कृच्छलभ्यं धर्ममवाप्य विषयसुखे रञ्जनं भस्मार्थचन्दनदहनमिव विफलम्। विरक्तविषयसुखस्य तु तपोभावनाधर्मप्रभावनासुखमरणादिलक्षणः समाधिर्दुरवापः।

लोक संस्थान आदि की विधि पहले कह आये हैं अर्थात् चारों ओर से अनन्त अलोकाकाश के बहुमध्य देश में स्थित लोक के संस्थान आदि की विधि पहले कह आये हैं। उसके स्वभाव का अनुचिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है। इस प्रकार विचार करने वाले के तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है।

एक निगोद शरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे जीव हैं। इस प्रकार स्थावर जीवों से सब लोक निरन्तर भरा हुआ है अतः इस लोक में त्रस पर्याय का प्राप्त होना इतना दुर्लभ है जितना कि बालुका के समुद्र में पड़ी हुई वज्रसिकता की कणिका का प्राप्त होना दुर्लभ होता है। उसमें भी विकलेन्द्रिय जीवों की बहुलता होने के कारण गुणों में जिस प्रकार कृतज्ञता गुण का प्राप्त होना बहुत दुर्लभ होता है उसी प्रकार पंचेन्द्रिय पर्याय का प्राप्त होना दुर्लभ है। उसमें भी पशु, मृग, पक्षी और सरीसृप तिर्यंचों की बहुलता होती है इसलिये जिस प्रकार चौपथ पर रत्नराशि का प्राप्त होना अति कठिन है उसी प्रकार से मनुष्य पर्याय का प्राप्त होना भी अति कठिन है और मनुष्य पर्याय के मिलने के बाद उसके च्युत हो जाने पर पुनः उसकी उत्पत्ति होना इतना कठिन है जितना कि जले हुए वृक्ष के पुद्गलों का पुनः उस वृक्ष पर्यायरूप से उत्पन्न होना कठिन होता है। कदाचित् पुनः इसकी प्राप्ति हो जाए तो देश, कुल, इन्द्रियसम्पत् और नीरोगता इनका प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इन सबके मिल जाने पर भी यदि समीचीन धर्म की प्राप्ति न होवे तो जिस प्रकार दृष्टि के बिना मुख व्यर्थ होता है उसी प्रकार से मनुष्य जन्म का प्राप्त होना व्यर्थ है। इस प्रकार अति कठिनता से प्राप्त होने के योग्य उस धर्म को प्राप्त कर विषय सुख में रममाण होना भस्म के लिये चन्दन को जलाने के समान निष्फल है। कदाचित् विषयसुख से विरक्त हुआ तो

१. तमेव कृ० - आ०, दि० १, दि० २।

तस्मिन् सति बोधिलाभः फलवान् भवतीति चिन्तनं बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य भावयतो बोधिं प्राप्य प्रमादो न कदाचिदपि भवति।

अयं जिनोपदिष्टो धर्मोऽहिंसालक्षणः सत्याधिष्ठितो विनयमूलः। क्षमाबलो ब्रह्मचर्यगुप्त उपशमप्रधानी नियतिलक्षणो निष्परिग्रहतालम्बनः। अस्यालाभादनादिसंसारे जीवाः परिभ्रमन्ति दुष्कर्मविपाकजं दुःखमनुभवन्तः। अस्य पुनः प्रतिलम्भे विविधाभ्युदयप्राप्तिपूर्विका निःश्रेयसोपलब्धिर्नियतेति चिन्तनं धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य चिन्तयतो धर्मानुरागात्सदा प्रतियत्नो भवति।

एवमनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षासंनिधाने उत्तमक्षमादिधारणान्महान् संवरो भवति। मध्ये 'अनुप्रेक्षा' वचनमुभयार्थम्। अनुप्रेक्षाः हि भावयन्नुत्तमक्षमादींश्च प्रतिपालयति परीषहांश्च जेतुमुत्सहते।

भी इसके लिए तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सुखपूर्वक मरणरूप समाधि का प्राप्त होना अति दुर्लभ है। इसके होने पर भी बोधिलाभ सफल है ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। इस प्रकार विचार करने वाले इस जीव के बोधि को प्राप्त कर कभी भी प्रमाद नहीं होता है।

जिनेन्द्रदेव ने यह जो अहिंसालक्षण धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्य से रक्षित है, उपशम की उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, परिग्रहरहितपना उसका आलम्बन है। इसकी प्राप्ति नहीं होने से दुष्कर्म विपाक से जायमान दुःख को अनुभव करते हुए ये जीव अनादि संसार में परिभ्रमण करते हैं परन्तु इसका लाभ होने पर नाना प्रकार के अभ्युदयों की प्राप्तिपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होना निश्चित है ऐसा चिन्तन करना धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस जीव के धर्मानुरागवश उसकी प्राप्ति के लिये सदा यत्न होता है।

इस प्रकार अनित्यादि अनुप्रेक्षाओं का सान्निध्य मिलने पर उत्तमक्षमादि के धारण करने से महान संवर होता है। अनुप्रेक्षा दोनों का निमित्त है इसलिये 'अनुप्रेक्षा' वचन मध्य में दिया गया है। अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता हुआ यह जीव उत्तमक्षमादि का ठीक तरह से पालन करता है और परीषहों को जीतने के लिये उत्साहित रहता है।

द्वादशानुप्रेक्षा

(श्री अमृतचन्द्रसूरिविरचित तत्वार्थसार ग्रन्थ से)

अनित्यं शरणाभावो भवश्चैकत्वमन्यता ।
अशौचमास्रवश्चैव संवरो निर्जरा तथा ।।२९।।
लोको दुर्लभता बोधेः स्वाख्यातत्वं वृषस्य च ।
अनुचिन्तनमेतेषामनुप्रेक्षाः प्रकीर्तिताः ।।३०।।

अर्थ— १. अनित्यता, २. अशरण, ३. संसार, ४. एकता, ५. अन्यता, ६. अशुचिता, ७. आस्रव, ८. संवर, ९. निर्जरा, १०. लोक, ११. बोधिदुर्लभता और १२. धर्म के स्वरूपवर्णन की श्रेष्ठता—इन बारह विषयों के बार-बार चिन्तन करने को बारह अनुप्रेक्षा कहते हैं। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

अनित्य अनुप्रेक्षा का स्वरूप—

क्रोडी करोति प्रथमं जात-जन्तुमनित्यता ।
धात्री च जननी पश्चाद् धिग् मानुष्यमसारकम् ।।३१।।

अर्थ— इस प्राणी को उत्पन्न होते ही प्रथम तो अनित्यता गोद में लेती है और बाद में माता तथा धाय गोद में ले सकती हैं, इसलिये इस असार मनुष्य जन्म को धिक्कार हो अर्थात् अनित्यता तो किसी भी चीज के उत्पाद होने के साथ ही लगी हुई है। मनुष्य जन्मने के कुछ समय बाद ही माता तथा धाय की गोद में आ सकेगा, परन्तु जो उत्पन्न हुआ है उसका मरना उसी समय से उसके साथ लगा हुआ है इसलिये इन शरीरादिकों को स्थिर मानकर इनमें प्रीति करना बड़ी भूल है। ऐसी मूर्खता को धिक्कार हो।

अशरण अनुप्रेक्षा का स्वरूप—

उपघ्नातस्य घोरेण मृत्यु-व्याघ्रेण देहिनः ।
देवा अपि न जायन्ते शरणं किमु मानवाः ।।३२।।

अर्थ— भयंकर मृत्युरूपी व्याघ्र जब जीव को घेरता है तब देव भी बचाने को समर्थ नहीं होते, मनुष्यों की तो बात ही क्या है ! ऐसे शरणरहित इस जीवन को धिक्कार हो।

संसारानुप्रेक्षा का स्वरूप—

चतुर्गति-घटीयन्त्रे सन्निवेश्य घटीमिव ।
आत्मानं भ्रमयत्येष हा कष्टं कर्म-कच्छिकः ।।३३।।

अर्थ— जैसे घटीयन्त्र में घटी को लगाकर काछी उसे फिराता है उसी प्रकार

चतुर्गतिरूप घटीयन्त्र में यह कर्मरूपी काछी जीवरूपी घटी को लगाकर निरन्तर फिराता है, यह बड़ा कष्ट है। इस कर्म के वश प्राणी को कभी तिर्यंच तो कभी देव, कभी मनुष्य तो कभी नारकी—इस प्रकार नाना योनियों में फिरना पड़ता है। कभी चैन से स्थिर नहीं हो पाता। इस फिराने का कारण कर्म है। इस परिभ्रमण का नाम ही संसार है इसलिये समझना चाहिये कि संसार कोई सुख की चीज नहीं है।

एकत्वानुप्रेक्षा का स्वरूप—

कस्यापत्यं पिता कस्य कस्याम्बा कस्य गेहिनी ।
एक एव भवाम्भोधौ जीवो भ्रमति दुस्तरे ।।३४।।

अर्थ— किसका कौन पुत्र और कौन किसका पिता ? किसी कौन माँ और किसकी कौन स्त्री ? दुस्तर संसारसमुद्र में जीव अकेला ही इधर से उधर भटकता है इसलिये किसी को अपना समझना नितान्त भ्रम है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा का स्वरूप—

अन्यः सचेतनो जीवो वपुरन्यदचेतनम् ।
हा तथापि न मन्यन्ते नानात्वमनयोर्जनाः ।।३५।।

अर्थ— जीव अन्य है और शरीर अन्य है। जीव का चैतन्य लक्षण है और शरीर का जड़ता लक्षण है। इन लक्षणों से दोनों जुदे-जुदे अनुभव में आ सकते हैं। तो भी, बड़ा खेद है कि मनुष्य शरीर को अपने से जुदा नहीं मानते हैं। जब दोनों ही भिन्न-भिन्न हैं तो इस शरीर को अपनाना बड़ी भूल है। जैसे शरीर भिन्न है वैसे ही पुत्र, धनधान्यादिक प्रत्यक्ष ही भिन्न हैं।

अशुचित्वानुप्रेक्षा का स्वरूप—

नाना कृमि-शताकीर्णे दुर्गन्धे मलपूरिते।
आत्मनश्च परेषां च क्व शुचित्वं शरीरके ।।३६।।

अर्थ— अनेक प्रकार के सैकड़ों कृमि-कीटों से यह शरीर भरा रहता है और मूत्र-विष्टा-थूक-खकार-पीव इत्यादि मलों से पूरित रहता है, इसलिये न यह शरीर पवित्र है और न दूसरों का। जैसा यह शरीर, वैसा ही दूसरों का। इसमें पवित्रता कहाँ से आयी ? ऐसे अपवित्र नीच शरीर में स्नेह करना या आसक्ति रखना बड़ी भूल है।

आस्रवानुप्रेक्षा का स्वरूप—

कर्माम्भोभिः प्रपूर्णोऽसौ योगरन्ध्रसमाहृतैः ।
हा दुरन्ते भवाम्भोधौ जीवो मज्जति पोतवत् ।।३७।।

अर्थ— कर्मों के भर जाने से जीव संसार में डूबता है। संसार मानो एक समुद्र है।

कष्ट है कि समुद्र का कदाचित् अन्त भी लग जाये परन्तु इसका अन्त कभी नहीं लगता। जीव जहाज के समान है। योगरूप छिद्रों द्वारा संचित हुए कर्मरूप जल से प्राणी परिपूर्ण हो रहा है इसलिए समुद्र के समान इस संसार में डूबता है। योग ही आस्रव है। इसी के द्वारा कर्म आते हैं। न कर्म आते और न ही प्राणी डूबता। इस सारे दु:ख का कारण योग अथवा आस्रव है।

संवरानुप्रेक्षा का स्वरूप—

योगद्वाराणि रुन्धन्तः कपाटैरिव गुप्तिभिः ।
आपद्भिर्न बाध्यन्ते धन्याः कर्मभिरुत्कटैः ।।३८।।

अर्थ—योग अथवा आस्रवरूप द्वारों को जो किवाड़ों के समान गुप्ति द्वारा बन्द करते हैं वे धन्य हैं। वे आते हुए कर्मों द्वारा भी बाधित नहीं हो पाते हैं। आने का द्वार ही रुक गया तो आपत्तियाँ आ कहाँ से सकती हैं, इसलिये जो योग-द्वारों को रोक देते हैं वे ही कर्मों के जाल से बचते हैं। वे धन्य हैं। उन्हीं का अनुकरण सबको करना चाहिये। यह हुआ आने वाले नवीन कर्मों के रोकने का उपाय। अब संचित कर्मों के खिपाने का उपाय बताते हैं।

निर्जरानुप्रेक्षा का स्वरूप—

गाढोऽपजीर्यते यद्वद् आमदोषो विसर्पणात् ।
तद्वद् निर्जीर्यते कर्म तपसा पूर्वसञ्चितम् ।।३९।।

अर्थ—रेचन की औषधि सेवन करने से जिस प्रकार गाढ़ जमा हुआ आम दोष अथवा अजीर्णता का दोष दूर हो जाता है उसी प्रकार पूर्वसंचित कर्म तपश्चरण करने से नष्ट हो जाता है। यह संचित कर्म के दूर करने का उपाय है। इससे कैसा ही दृढ़बद्ध कर्म भी नष्ट हो जाता है।

लोकानुप्रेक्षा का स्वरूप—

नित्याध्वगेन जीवेन भ्रमता लोकवर्त्मनि ।
वसति-स्थानवत् कानि कुलान्यध्युषितानि न ।।४०।।

अर्थ—जीव सदा ही भ्रमण करता है। राहगीर ही बना रहता है। लोक मात्र भ्रमण का मार्ग है। घर, द्वार की तरह असंख्यातों ऐसे शरीराकार हैं कि जिन्हें कुल कहते हैं। उनमें से ऐसे कौन से कुल हैं जो कि जीव ने अपने भ्रमण में घररूप न बना लिये हों—जिनमें कि जीव भ्रमते हुए निवास न कर चुका हो। जबकि अनादि से भ्रम रहा है तो कौन सा लोक-क्षेत्र तथा कुल इससे छूट सकता है ? एक बार नहीं किन्तु अनेक बार, एक-एक क्षेत्र में जन्म-मरण हो चुके हैं। इस प्रकार लोक का अपने साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह कैसे छूटे ?

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा का स्वरूप—

मोक्षारोहणनिश्रेणिः कल्याणानां परम्परा ।
अहो कष्टं भवाम्भोधौ बोधिर्जीवस्य दुर्लभा ।।४१।।

अर्थ—देखो, यह बड़ा कष्ट है कि, जो मोक्ष तक चढ़ने के लिये सीढ़ियों के समान है, कल्याणों की परम्परा है, ऐसी बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति संसार सागर में जीव के लिये अत्यन्त दुर्लभ हो रही है। यदि जीव इस संसार सागर से तरना चाहे तो रत्नत्रय के द्वारा ही तर सकता है। उसी के द्वारा मोक्ष में पहुँच सकता है। संसार में जब तक जीव रहे तब तक भी उससे अनेक और सातिशय सुख प्राप्त हो सकते हैं परन्तु उस रत्नत्रय ही प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन हो रहा है। जीव का नित्यनिगोद पहला निवास स्थान है। वहाँ से मनुष्य जन्म तक आना अति कठिन है। मनुष्य भव में ही रत्नत्रय का लाभ हो सकता है। यदि यह जन्म निष्फल गया तो फिर समुद्र में चिन्तामणि रत्न फेंक देने के बराबर हानि होगी।

धर्मानुप्रेक्षा का स्वरूप—

क्षान्त्यादिलक्षणो धर्मः स्वाख्यातो जिनपुंगवैः ।
अयमालम्बनस्तम्भो भवाम्भोधौ निमज्जताम् ।।४२।।

अर्थ—उत्तम क्षमादिरूप धर्म का सच्चा स्वरूप जिनेन्द्र भगवान ने ही कहा है। संसार समुद्र में डूबते हुए प्राणियों को यही आश्रय देने वाला—उन्हें थामने वाला खम्भ है। इसी के सहारे से प्राणी संसार समुद्र में डूबने से बचते हैं और पार होते हैं।

भावनाओं का एकमात्र फल—

एवं भावयतः साधोर्भवेद्धर्ममहोदामः ।
ततो हि निष्प्रमादस्य महान् भवति संवरः ।।४३।।

बारह अनुप्रेक्षा

(गणिनी ज्ञानमती कृत)

अनित्य भावना

अब सर्वप्रथम अनित्य भावना को कहते हैं। इसका दूसरा नाम अनित्य अनुप्रेक्षा है।

अध्यात्म भाषा में हिन्दी काव्य — अनित्य भावना —

(शंभु छंद)

तन धन यौवन इन्द्रिय सुख ये, सब क्षणभंगुर हैं नित्य नहीं।
मैं नित्य अचल अविनश्वर हूँ, स्वाभाविक शक्ति अचिंत्य कही।।
मैं नित ध्याऊँ निज आत्मा को, अविनश्वर पद के पाने तक।
मैं ज्ञाता दृष्टा बन जाऊँ, सर्वज्ञ अवस्था आने तक।।१।।

कन्नड़ में अनित्य भावना पढ़िए —

अरसर वैभव सुरर विमानवु धन यौवन संपदवेल्ला।
निरतवु नेनेदरे इन्द्रिय भोगवु येंदु निल्लदु स्थिरवल्ला।।
मेरे युव कामन बिल्लिन तेरदलि नोडलु मत्तल्लेनिल्ला।
स्वात्म स्वभावव साधिसि संतत मुक्तियु कैयोळगिहुदल्ला।।१।।

राजाओं का वैभव, देवों के विमान, धन, यौवन, ऐश्वर्य, बल, आज्ञा का चलना, इन्द्रिय के भोग ये सब एक निमिष मात्र भी स्थिर नहीं हैं। जैसे आकाश में बिजली चमक कर नष्ट हो जाती है, इन्द्रधनुष क्षण में विलीन हो जाता है उसी प्रकार इस संसार में ये सब नष्ट होने वाले हैं। इन सबसे भिन्न मात्र अपने आत्म- स्वभाव की ही तुम सतत साधना करो कि जिससे तुम स्थिर ऐसी मुक्ति को प्राप्त कर सकोगे।

इस अध्रुव अथवा अनित्य भावना का चिंतवन करते रहने से मन में संसार की किसी भी वस्तु के प्रति विशेष ममत्व भाव नहीं रह जाता है बल्कि उससे भिन्न अपनी आत्मा शाश्वत काल रहने वाली नित्य है, उसमें ही सच्चा अनुराग उत्पन्न होता है तथा उस आत्मा की सिद्धि के लिए कारणभूत ऐसे पाँचों परमेष्ठियों की भक्ति, उपासना, आराधना में भी अनुराग होता है इसलिए इस अध्रुव अनुप्रेक्षा का हमेशा चिंतवन करते रहना चाहिए।

अशरण भावना

अध्यात्म भाषा में अशरण भावना —

जग में क्या शरण कोई देगा, सब शरण रहित अशरणजन हैं।
आत्मा इक शरणागत रक्षक, उस ही का शरण लिया मैंने।।

यद्यपि अर्हंत जिन पंचगुरू, हैं शरणभूत निज भक्तों के।
पर निश्चय से निज आत्मा ही, रक्षा करती भव दुःखों से।।२।।

तात्पर्य यह हुआ कि अशरण भावना भाते समय निश्चयनय से अपनी आत्मा को ही शरण समझकर व्यवहार नय से पाँचों परमेष्ठी की शरण लेना चाहिए। यही इस भावना को भाने का सार है।

कन्नड़ में अशरण भावना को पढ़िए —

अशरण भावने —

हुल्लि बायलि हा हुल्लेय परियलि नरळुव भव काननदल्लि।
कलिगळ काणेनु कालन तडेयलु भयवे भय जीवनदल्लि।।
तायियो तंदेयो बंधुवो बळगवो येल्लरु यमना कैयल्लि।
कायुवुदोंदे श्री जिनराजन स्मरणेयु संतत शरणिल्लि।।२।।

इस तीन लोकरूपी वन में जैसे व्याघ्र हरिण को पकड़ ले तो उसकी दाढ़ के नीचे गए हुए उस हरिण को कोई भी शरण नहीं है। उसी प्रकार हे जीव! मृत्यु के समय तुम्हारी रक्षा करने वाला भला कौन बलवान है ? माता-पिता, बन्धु, राजा और इन्द्र ये सभी तो यमराज के मुख का ग्रास बन रहे हैं पुनः ये तुम्हारी क्या रक्षा करेंगे ? हाँ, इस जगत में रक्षक वे ही हैं कि जिन्होंने यमराज को जीत लिया है इसलिए मृत्यु के विजेता ऐसे देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव की ही शरण लेवो।

संसार भावना

अध्यात्म भाषा में हिन्दी काव्य, संसार भावना —

हैं द्रव्य, क्षेत्र औ काल तथा, भव भाव पंच विध परिवर्तन।
निज आत्मा के अंदर रमते, ही रुक जाते सब परिभ्रमण।।
मैं हूँ निश्चय से भ्रमण रहित, शिवपुर में ही विश्राम मेरा।
मैं निज में स्थिर हो जाऊँ, फिर होवे भ्रमण समाप्त मेरा।।

कन्नड़ में संसार भावना —

मूजगदलि चिरमिथ्या मायेगे सिलुकुत तिरुगुतलिरुतिहेनु।
आ जिनदेवन काणदे भ्रमेयलि कालवनंतव कळेदिहेनु।।
ई जगदलि बरि दुःखवदल्लदे शाश्वत शान्तयु बित्तिल्ला।
भज भव्यात्मने भवहरदेवने हुट्टु सावुगळु मन्तिल्ला।।

इस तीन जगत में चिरकाल से मिथ्यात्व और मायाचार से यह जीव भ्रमण कर रहा है। श्री जिनेन्द्रदेव के धर्म को नहीं प्राप्त कर ही इसने अनंतकाल बिता दिया है। इस जगत

में केवल दुःख ही दुःख है, शाश्वत शांति नहीं है। इसलिए हे भव्यजीव! तुम भव से रहित ऐसे जिनेन्द्रदेव का आश्रय लेवो कि जिससे पुनः तुम्हें इस संसार में जन्म-मरण ही न करना पड़े।

इस प्रकार संसार भावना के बार-बार चिंतवन करने से संसार से भय उत्पन्न होता है तब मोक्ष प्राप्ति के उपाय में प्रवृत्ति होती है।

एकत्व भावना

अध्यात्मभाषा में एकत्व भावना—

मैं हूँ अनादि से एकाकी, एकाकी जन्म मरण करता।
फिर भी अनंतगुण से युत हूँ, मैं जन्म मृत्यु भय का हरता।।
स्वयमेव आत्मा को ध्याऊँ, पूजूं वंदूँ गुणगान करूँ।
एकाकी लोक शिखर जाकर, स्थिर हो निज सुख पान करूँ।।

कन्नड़ भाषा में एकत्व भावना—

हुट्टुव सायुव समयदि संगड खंडित बरुववरारण्णा।
बुट्टियलेनिदे बाळलि गळिसदे मेल्लने मरेयदे नोडण्णा।।
बरुवदु शुभाशुभार्जित कर्मवे यारिगू यारु जोतेगिल्ला।
मरदलि सेरिद हक्किकगळन्ददि सेरुवुदगलुवदिल्लेल्ला।।३।।

इस संसार में यह जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। इसके साथ दूसरा कोई नहीं जाता है और न आता ही है। हे भाई! यह स्पष्टतया देखो, मात्र प्रत्येक जीव के साथ उसके किये हुए शुभ-अशुभ कर्म ही साथ जाते हैं बाकी कोई किसी के साथ नहीं जाता है। जैसे रात्रि में वृक्ष पर अनेक पक्षी आकर इकट्ठे हो जाते हैं और प्रातः होते ही अन्यत्र चले जाते हैं।

अन्यत्व भावना

अध्यात्मभाषा में अन्यत्व भावना—

मेरी आत्मा से भिन्न सभी, किंचित् अणुमात्र न मेरा है।
मैं सबसे भिन्न अलौकिक हूँ, बस पूर्ण ज्ञान सुख मेरा है।।
मैं अन्य सभी पर द्रव्यों से, संबंध नहीं रख सकता हूँ।
वे सब अपने में स्वयं सिद्ध, मैं निज भावों का कर्ता हूँ।।

कन्नड़ भाषा में अन्यत्व भावना—

गेहवु नन्नदु देहवु नन्नदु येन्नुवेया बरि मरुळेल्ला।
नेहव माडिद वस्तुगळाववु निन्नोडनेंदिगु बरलिल्ला।।

नीरु हालू सेरिद परियलि जीव शरीरव बगेयुतिरु।
नीरनुळिदु बरि हालनेळेव चिर चिन्मय हंस नीनागुतिरु।।

"यह घर मेरा है यह शरीर मेरा है" ऐसा कहते हुए यह संसारी प्राणी प्रत्येक वस्तु से स्नेह करते रहते हैं किन्तु वास्तव में कोई भी वस्तु इस जीव के साथ नहीं जाती है। जैसे जल और दूध मिलाने पर एकमेक हो जाते हैं वैसे ही यह जीव और शरीर दोनों एकेक हो रहे हैं किन्तु इनका लक्षण अलग-अलग है। जल को अलग कर दूध पीने वाले हंस के सम तुम चिन्मय चैतन्य हंस अपनी आत्मा को कर्मों से अलग कर सुखी होवो।

अशुचि भावना

अध्यात्म भाषा में हिन्दी काव्य—अशुचिभावना—

यह देह अपावन अशुचिमयी, सब शुचि वस्तु अपवित्र करे।
इस तन में राजित आत्मा ही, रत्नत्रय से तन शुद्धि करे।।
तन सहित तथापि अशरीरी, आत्मा को ध्याऊँ रुचि करके।
चैतन्य परम आल्हादमयी, परमात्मा बन जाऊँ झट से।।

कन्नड़ में अशुचि भावना—

मलमूत्रद कोळे कोंपेयु कोनेयलि सुडुगाडिगे बलियागुवदु।
होलसिन देहव नंबिदेयादरे कर्मद कै मेलागुवदु।।
परिपरि परिमळ पाकव नेनेदरे नारुतलिरुवुदु शुचियिल्ला।
चिरत्रैरत्नामृतदलि तोळेदरे भवदलि खंडित रुचियिल्ला।।

यह शरीर मल, मूत्र आदि अशुचि पदार्थों का पिंड है इससे हमेशा दुर्गंध ही निकलती रहती है। चाहे जितना इसे नहलाओ, सुगंधित द्रव्य लगाओ पर वे भी अपवित्र हो जाते हैं। इस शरीर में स्थित आत्मा को तीन रत्न—रत्नत्रय से धोने पर यह पवित्र हो जाता है। ऐसी भावना भाने से शरीर से प्रेम नष्ट हो जाता है और रत्नत्रय में प्रीति उत्पन्न होती है जिससे इस नश्वर घृणित शरीर से ही आत्मा को अविनाशी पवित्र बनाया जाता है।

इस प्रकार अशुचिभावना के भाते रहने से शरीर से ममत्व दूर हो जाता है और इस अपवित्र शरीर से रत्नत्रय द्वारा संसारी आत्मा को पवित्र कर लिया जाता है।

आस्रव भावना

अध्यात्म भाषा में हिन्दी काव्य को देखिए—

आस्रव भावना—

मिथ्या अविरती कषायों से, कर्मास्रव हैं आते रहते।
पर ये जड़ अशुचि अचेतन हैं, जड़ ही इनको रचते रहते।।

मेरा है चेतन रूप सदा, मैं इन कर्मों से भिन्न कहा।
मैं निज आत्मा को भिन्न समझ, इन कर्मास्रव से पृथक् किया।।

कन्नड़ भाषा में आस्रव भावना—

मिथ्या अविरत कषाय योगदि कर्मगळेंटवु कूडुववु।
सत्यासत्यद नडेनुडियंददि सदसत्फलवनु नीडुववु।।
रंध्रव होंदिद हडगिन परियलि मेल्लने नाशव होन्दुवदु।
ई तेरदलि भव जलधियोळात्मनदास्रववदलिता नोंदिहुदु।।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इनके द्वारा आठ प्रकार के कर्म आत्मा में आते हैं। ये शुभ-अशुभरूप से बंधकर अच्छे-बुरे फलों को देते रहते हैं। जैसे जहाज में छिद्रहोने से चारों तरफ से उसमें जल भर जाने से वह समुद्र में डूब जाता है, उसी प्रकार से संसार समुद्र में यह आत्मा इन आस्रव के कारण डूब जाता है।

इस आस्रव भावना को समझकर मिथ्यात्व आदि से बचना, उनके विपरीत सम्यक्त्व, विरति आदि को ग्रहण करना यही इस आस्रव भावना को भाने का सार है।

संवर भावना

अध्यात्म भाषा में हिन्दी काव्य में संवर भावना—

गुप्ति समितियुत संयम ही, कर्मों का संवर करते हैं।
निश्चय से निज में गुप्त रहूँ, तब कर्मास्रव सब रुकते हैं।।
मैं निर्विकल्प निज परम ध्यान, में लीन रहूँ परमारथ में।
फिर कर्म कहो आते कैसे ? ये भी रुक जाते मारग में।।

कन्नड़ भाषा में संवर भावना—

हडगिन रंध्रव मुच्चलु मनुजरु जलधिय दडवनु सेरुवरु।
कडेगाणद ई कर्मद रंध्रव तडयेलु संयमवेरुवरु।।
बा भव्यात्मने! नीनिरु चिरदिन व्रत समितियपालनेयल्लि।
ई भाव दाटलु संवर भावने सततवु नेलसलि मनदल्लि।।

जहाज के छिद्रों को बंद करने से वह उसमें बैठने वालों को समुद्र के किनारे पहुँचा देता है वैसे ही कर्म के छिद्रों को रोकने के लिए संयम की आवश्यकता है। हे भव्यजीव! तुम हमेशा व्रत, समिति आदि के पालन करने में तत्पर होवो क्योंकि इस संसार को पारकरने के लिए संवर भावना ही है, ऐसा तुम सतत मन में चिंतवन करते रहो।

संवर भावना को भाते रहने से आस्रव से भय होता है और संवर को प्राप्त करने की रुचि उत्पन्न होती है। यही इस भावना के चिंतन करने का अभिप्राय है।

निर्जरा भावना

अध्यात्म भाषा में हिन्दी काव्य—निर्जरा भावना—

ध्यानाग्नि से सब कर्मपुंज, को जला जलाकर भस्म करूँ।
बहिरंतर तप तपते तपते, निज से कर्मों को जुदा करूँ।।
मैं कर्मरहित निज आत्मा को, जब निज में स्थिर कर पाऊँ।
तब कर्म स्वयं ही झड़ जावें, मैं मुक्तिश्री को पा जाऊँ।।

कन्नड़ भाषा में निर्जरा भावना—

बिसिलिगे नीरदु आरुव तेरदलि तपदलि कर्मवदारुवदु।
बसवळिदेल्लवु क्षण क्षण क्रमदलि आत्म प्रदेशदिं जारुवदु।।
मुंदिन कर्मव तडेयलु क्रमदिं मेल्लने ता बरिदागुवदु।
चेंददि चिन्तिप निर्जर भावने मुक्तियु बेगने तोरुवदु।।

जैसे सूर्य के आतप से सरोवर का जल सूख जाता है वैसे ही तपश्चर्या के द्वारा कर्मों को सुखाना चाहिए। आगे के आने वाले कर्म रुक गये और पुराने बंधे हुए झड़ते गये तो क्रम से सब कर्मों की निर्जरा होकर शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा सतत चिन्तन करना निर्जरा भावना है।

यह निर्जरा भावना कर्मों से छुड़ाकर मोक्ष प्राप्त कराने वाली है। इसके भाते रहने से आत्मा से कर्मों का भार हल्का होता है।

लोक भावना

अध्यात्म भाषा में हिन्दी काव्य—लोक भावना—

यह लोक अनादि अनिधन है, यह पुरुषाकार कहा जिन ने।
नहिं किंचित् सुख पाया क्षण भर, मैं घूम घूम कर इस जग में।।
अब मैं निज का अवलोकन कर, लोकाग्रशिखर पर वास करूँ।
मैं लोकालोकविलोकी भी, निज का अवलोकन मात्र करूँ।।

कन्नड़ में लोक भावना—

नलवत्तूरा मुन्नूरु रज्जुवु, घनलोकवु पुरुषाकारदलि।
अलेयुतलेम्भत्नाल्कु लक्षद, योनियु नानाकारदलि।।
तत्व बोधेयनु पडेयलिल्लवै, शान्तियु लेशवु सिगलिल्ला।
लोकान्त्यदलि निवासिसुववरिगे, चिरशान्तियु बहुस्थिरवेल्ला।।

यह लोक तीन सौ तेतालीस राजु प्रमाण घनरूप है, पुरुष के आकार का है। इसी में

चौरासी लाख योनियों में अनेक आकार को धारण करके यह जीव घूम रहा है। तत्त्वज्ञान के बिना इस लोक में लेशमात्र भी शांति नहीं मिल सकती है। जो लोक के अग्रभाग में निवास कर रहे हैं ऐसे सिद्ध भगवान को ही पूर्ण शांति प्राप्त है, वे ही स्थिर पद पर निवास कर रहे हैं।

इस लोक भावना के बार-बार भाते रहने से यह जीव ऊर्ध्वलोक को प्राप्त करने का प्रयास करता है पुनः धीरे-धीरे लोक के अग्रभाग को प्राप्त कर लेता है।

बोधिदुर्लभ भावना

अध्यात्म भाषा में हिन्दी काव्य-बोधिदुर्लभ भावना—

दुर्लभ निगोद से स्थावर, त्रस पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ।
दुर्लभ उत्तम कुल देश धर्म, रत्नत्रय भी पाना दुर्लभ।।
सबसे दुर्लभ निज को पाना, जो नित प्रति निज के पास सही।
दुर्लभ निज को पाकर निज में, स्थिर हो पाऊँ सौख्य मही।।

कन्नड़ भाषा में बोधिदुर्लभ भावना—

भूजल तरुमोदलादेकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय पञ्चेन्द्रियवु।
निजकुल बलवा जातिय रूपवु शरीर बुद्धियु गुरुगुणवु।।
उत्तम सम्पद समाधि कोनेयलि दुर्लभवेंबुदु मरेयदिरु।
सत्तरु बदुकुव दारिय तोरुव श्री जिनचरणव तोरेयदिरु।।

इस जगत में पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि स्थावर एकेन्द्रिय से त्रस पर्याय में दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चार इन्द्रिय होना दुर्लभ है, पुनः पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ है। इसको पाकर उत्तम कुल, बल, जाति, रूप, शरीर स्वस्थता, बुद्धि और श्रेष्ठ गुणों का पाना दुर्लभ है। इन सबको पाकर भी उत्तम संयम पाना पुनः अंत में समाधिमरण प्राप्त करना बहुत ही दुर्लभ है। इन सबको पाकर हे भव्य! तुम जिनराज के चरणों का आश्रय लेवो कि जिससे जन्म-मरण की परम्परा समाप्त हो जावे।

धर्म भावना

अध्यात्मभाषा में हिन्दी काव्य—धर्म भावना—

जो भवसमुद्र में पतित जनों को, निज सुखपद में धरता है।
है धर्म वही मंगलकारी, वह सकल अमंगल हर्ता है।।
वह लोक में है उत्तम सबमें, औ वही शरण है सब जन को।
निज धर्ममयी नौका चढ़कर, मैं शीघ्र तिरूँ भवसिंधू को।।

कन्नड़ भाषा में धर्म भावना—

धर्मवे सिरियदु धर्मवे गुरियदु निजजीवनदा कृतियेल्ला।
मर्मवनरियलु सुरतरु चिन्तामणियिदकावुदु समनिल्ला।।
अडिगडियात्मगे सारुतलिरुवरु गुरुगळु संतत शान्तियलि।
कुडि कुडि धर्मामृतवनु मरेयदे केडदिरु तिरुगुत भ्रांतियलि।।

इस जीवन में धर्म ही श्री है और धर्म ही श्रेष्ठ है, यह धर्म ही कल्पवृक्ष है, चिंतामणि है, इसके समान और कुछ भी नहीं है। हे आत्मन्! तुम यदि सतत शांति चाहते हो तो सर्व भ्रांति को छोड़कर इस धर्मरूपी अमृत का पान करो, पान करो, यही अजर अमर पद को देने वाला है।

यह धर्म संसार में सर्व मनोरथ को पूर्ण कर अनेक अभ्युदयों को प्रदान करता है पुनः सर्व कर्मों का नाश कर मोक्षसुख देने वाला है। धर्म के बिना इस जगत में कुछ भी सार नहीं है, ऐसा बार-बार भाते रहने से यह धर्म आत्मा को परमात्मा बना देता है।

—उपसंहार—

ई परि द्वादश भावनेयिर्पुदु तीर्थंकररिद भाविपरु।
भेदाभेददि तप्वदि आत्मन मुक्तिगे सागिसे श्रमिसुवरु।।
भवतनु भोगद वैराग्यव नी पोंदुत मोहव मरेयण्णा।
भाविसु ई परि ज्ञानमतियु नी मोक्षदि चिरदिन मेरेयण्णा।।

इन द्वादश भावनाओं को तीर्थंकरों ने भी भाया है, पुनः भेद और अभेद रत्नत्रय को प्राप्त कर आत्म-तत्त्व का चिंतवन करते हुए मोक्ष को प्राप्त कर लिया है। इसलिए आप भी संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य प्राप्त कर हे ज्ञानमति! अथवा ज्ञान में ही बुद्धि जिनकी ऐसे हे भव्य! तुम मोह को छोड़ो और पुनः-पुनः इन बारह भावनाओं को भाते रहो कि जिससे मोक्ष को जल्दी ही प्राप्त कर लेवो।

प्रशस्ति

[१]नवत्रिपंचद्वयंकेऽस्मिन्, वीराब्दे मार्गशीर्षके।
चतुर्दशी सिते पक्षे[२], ग्रन्थोऽयं पूर्यते मया।।

द्वादशानामनुप्रेक्षा, संकलिता जिनागमात्।
गणिनीज्ञानमत्येयं, कृतिः स्थेयात् चिरं भुवि।।

हस्तिनापुरतीर्थेऽत्र, त्रिलोकरचनादयः।
यावज्जैनेंद्र धर्मोऽयं, ग्रन्थोऽयं न श्रियं क्रियात्।।

अर्थ—वीर निर्वाण संवत् २५३९, मगसिर शुक्ला चतुर्दशी को मैंने यह ग्रंथ पूर्ण किया है। जैन आगम से मैंने—गणिनी ज्ञानमती ने यह द्वादशानुप्रेक्षा ग्रंथ संकलित किया है। यह ग्रंथ चिरकाल तक पृथ्वी पर स्थित रहे। जब तक हस्तिनापुर तीर्थ पर तीनलोक, जम्बूद्वीप, तेरहद्वीप आदि रचनाएँ विद्यमान रहें एवं जब तक इस भूतल पर जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित जैनधर्म विद्यमान रहे, तब तक यह ग्रंथ हम सभी भव्यों के कल्याण को करता हुआ विद्यमान रहे।।१-२-३।।

१. वीर सं. २५३९ (सन् २०१२)। २. अरनाथ जन्मतिथि।

BARAH-BHAVNA

[TWELVE ANUPREKSHAS]

By : Aryika Chandnamati

(Tune - Chalat Musafir Moh liyo Re.....)

I'm praying to you Jinavar deva!
I'm praying to you
Praying to you, I'm saying to you-2
I'm praying to you Jinvar deva. I'm....
I did not know about my soul,
I could not think about myself.
So tell me that path deva.....
I'm praying to you.....

1. Anitya Bhavna

All things are momentary in world,
Everybody doing the birth and death.
It is also nature of Universe.....
I'm praying to you.....1

2. Asharan Bhavna

Unprotected are the souls of creatures
They are feeling fruitition of Karmas.
Any body doesn't help here.....
I'm praying to you.....2

3. Sansar Bhavna

Soul moves in Universe from eternal,
And could not attain true happiness.
Now I want ending sorrow
I'm praying to you.....3

4. Ekatva Bhavna

I came alone and will go alone too,
There is neither any friend nor enemy.
None takes my Manifold sufferings.....
I'm praying to you.....4

5. Anyatva Bhavna

Soul is separate from my body,
All relatives are different from me,
I think, my soul is as God.....
I'm praying to you....5

6. Ashuchi Bhavna

Although my soul is so sacred,
But He became impure by Karmas.
Please bless me to get pure soul...
I'm praying to you.....6

7. Ashrav Bhavna

The inflow of Karmas grows my Universe,
And it also originates the Passions.
Sacrad and sinful kinds of Ashravas...
I'm praying to you....7

8. Samvar Bhavna

The inflow of Karmas stopped where,
That condition is known by Samvar.
I want to attain this manner.....
I'm praying to you....8

9. Nirjara Bhavna

After the fruitition of those Karmas,
Dissociation of them then takes place.
Two kinds of this holy Nirjara.....
I'm praying to you....9

10. Lok Bhavna

Universe is situated from eternal,
Which is divided in three Lokas.
We are wandering without knowledge....
I'm praying to you...10

11. Bodhidurlabha Bhavna

Human life is the best than all lives,
But difficult is, to attain Ratnatraya.
Give me that Right Path, deva.....
I'm praying to you....11

12. Dharma Bhavna

Religion is the nature of thing, say Granthas,
I want to receive nature of the soul.
Then, I will get Salvation.....
I'm praying to you...12

These are called as twelve Anupreksha,
Meditated by all great persons.
"Chandnamati" wants to get them.....
I'm praying to you..

सम्मेदशिखर टोंक वन्दना

रचयित्री-आर्यिका चन्दनामती

तीर्थराज सम्मेदशिखर है, शाश्वत सिद्धक्षेत्र जग में।
एक बार जो करे वन्दना, वह भी पुण्यवान सच में।।
ऊँचा पर्वत पार्श्वनाथ हिल, नाम से जाना जाता है।
जिनशासन का सबसे पावन, तीरथ माना जाता है।।1।।

जब प्रत्यक्ष करें यात्रा, उस पुण्य का वर्णन क्या करना।
लेकिन प्रतिदिन भी परोक्ष में, गिरि का ध्यान किया करना।।
आँख बन्दकर करो कल्पना, मेरी यात्रा शुरू हुई।
प्रातःकाल चले सब यात्री, जय जयकारा शुरू हुई।।2।।

एक हाथ में छड़ी दूसरे, में चावल की झोली है।
ज्यादातर सब पैदल हैं, पर किसी-किसी की डोली है।।
कभी न चलने वाले भी, हिम्मत कर पर्वत चढ़ते हैं।
पारस प्रभु के पास पहुँचने, हेतु कदम बढ़ चलते हैं।।3।।

चढ़ते-चढ़ते आठ किलोमीटर, का पथ जब तय होता।
दायें हाथ तरफ तब इक, चौपड़ा कुंड दर्शन होता।।
वहाँ दिगम्बर जिनमंदिर, संस्कृति की अमिट धरोहर है।
पार्श्वनाथ चन्द्रप्रभु बाहुबलि की मूर्ति मनोहर हैं।।4।।

उस मन्दिर में रुककर अपने, प्रभु का दर्शन कर लेना।
सुन्दर बनी धर्मशाला में, इच्छा हो तो ठहर लेना।।
मंदिर दर्शन करके फिर, यात्रा प्रारंभ करो अपनी।
बायें हाथ चलो चढ़ कर जहाँ, गौतम स्वामी टोंक बनी।।5।।

यहाँ पहुँचकर ठंडी-ठंडी, हवा थकान मिटाती है।
गणधर चरण वन्दना से, यात्रा की शक्ती आती है।।

प्रथम टोंक यह हुई पास में, दुतिय टोंक कुंथु जिन की।
तीर्थंकर क्रम में यह पहली, टोंक नमूँ कुंथु प्रभु की।।6।।

इन टोंकों के दर्शन से, उपवास का फल प्रारंभ हुआ।
त्रय प्रदक्षिणा देने से, आगे शुभ गति का बंध हुआ।।
शुभ भावों से आगे बढ़कर, टोंक तीसरी आती है।
श्रीनमिनाथ जिनेश्वर की, वन्दना सहज हो जाती है।।7।।

चौथा नाटक कूट तीर्थंकर, अरहनाथ का आया है।
जहाँ करोड़ों मुनियों ने भी, तपकर शिवपद पाया है।।
वन्दन कर आगे बढ़ने से, मल्लिनाथ के चरण मिले।
आगे छठे टोंक पर श्री, श्रेयाँसनाथ पदकमल मिले।।8।।

इन सबका वन्दन कर मैंने, सिद्धशिला को नमन किया।
वहाँ विराजे सिद्धों को, अपने मन में स्मरण किया।।
थकना नहिं अब पुष्पदंत की, सप्तम टोंक पे चलना है।
आगे चढ़ने हेतु वहीं से, आतमशक्ती भरना है।।9।।

पुष्पदंत प्रभु के चरणों में, अर्घ्य चढ़ाकर नमन किया।
और चले आठवीं टोंक पर, पदमप्रभू का शरण लिया।।
नवमीं टोंक विराजे श्री, मुनिसुव्रत जिन के चरणकमल।
इन सबके पावन पद में, श्रद्धा से मैंने किया नमन।।10।।

हे भव्यात्मन् ! अब दसवीं चन्द्रप्रभ टोंक पे चलना है।
पहले दौड़-दौड़ कर उतरो, फिर ऊँचाई चढ़ना है।।
चन्द्रप्रभ मंदिर में जाकर, चरणवन्दना करना है।
अपने सारे सुख-दुख को, प्रभु चरण बैठकर कहना है।।11।।

अब ग्यारहवीं टोंक पे चलकर, ऋषभदेव को नमन करो।
गिरि कैलाश से मुक्त हुए, यहाँ उनके चरण चिन्ह प्रणमो।।

श्री शीतल जिनवर की है, बारहवीं टोंक प्रसिद्ध कही।
मन-वच-तन से वन्दन कर, पाओ यात्रा का पुण्य सही।।12।।

श्री अनंत तीर्थंकर का, तेरहवाँ कूट स्वयंभू है।
उनके चरणों में श्रद्धायुत, शीश झुकाकर वन्दूँ मैं।।
संभव जिनवर का चौदहवाँ, धवलकूट माना जाता।
वासुपूज्य जिनका पन्द्रहवां, टोंक सभी को सुखदाता।।13।।

इनको वन्दन कर आगे, अभिनन्दन प्रभु के पास चलो।
बन्दर चिन्ह सहित उन प्रभु की, टोंक पे बन्दर से न डरो।।
अभिनन्दन के चरणों में, कर नमन चलो जलमंदिर तक।
चढ़ो वहाँ से जहाँ है गौतम,गणधर प्रभु की टोंक प्रथम।।14।।

फिर सत्रहवीं टोंक से अपनी, अगली यात्रा करना है।
धर्मनाथ प्रभु के चरणों में, नमन सभी को करना है।।
सुमतिनाथ का अट्ठारहवाँ, टोंक है अविचल कूट कहा।
नौ करोड़ बत्तीसलाख, उपवास का फल मिलता है यहाँ।।15।।

उन्निसवाँ है टोंक शांतिजिन, का जो यहाँ से मोक्ष गये।
नौ करोड़ से अधिक मुनी, इस कुंदकूट से मोक्ष गये।।
शांतिनाथ के संग सब मुनियों, को श्रद्धा से नमन किया।
पुनः बीसवीं टोंक पे जाकर, वीरप्रभू की शरण लिया।।16।।

श्री सुपार्श्व तीर्थंकर इक्कीसवीं टोंक पर राजे हैं।
कहते हैं यहाँ की मिट्टी से, रोग सभी नश जाते हैं।।
इनका वंदन करके पास में, विमल नाथ की टोंक चलो।
बाइसवीं इस टोंक को नमकर, अजितनाथ के निकट चलो।।17।।

थके कदम से तेइसवीं इस, टोंक का वंदन कठिन तो है।
लेकिन यात्रा पूरी करने, का शुभ भाव हृदय में है।।

धीरे-धीरे चढ़कर आखिर, अजितनाथ तक पहुँच गये।
उन चरणों में नमन किया फिर, नेमिनाथ जी प्राप्त हुए।।18।।

इस चौबिसवीं टोंक पे नेमीनाथ चरण को नमन किया।
पारसनाथ प्रभू पाने हेतू फिर मैंने गमन किया।।
स्वर्णभद्र यह टोंक है अंतिम, यात्रा पूर्ण यहाँ होती।
पार्श्वनाथ की पूजन करके, मन सन्तुष्टि यहाँ होती।।19।।

कुछ क्षण ध्यान करो फिर नीचे, गुफा में स्थित चरण नमो।
खुशी-खुशी वन्दना पूर्ण कर, पर्वत से नीचे उतरो।।
यही वन्दना आत्मा की, भव्यत्व शक्ति बतलाती है।
तभी ''चन्दनामती'' सभी में, भक्ति स्वयं आ जाती है।।20।।

भगवन् ! इस सम्मेदशिखर का, पुनः पुनः दर्शन पाऊँ।
यही भावना है मन में, सिद्धों के गुण में रम जाऊँ।।
इसी क्षेत्र से कभी मुझे, निर्वाण धाम भी मिल जावे।
सिद्ध भक्ति मेरे जीवन में, सिद्ध अवस्था दिलवाये।।21।।

भगवान ऋषभदेव दीक्षास्थली प्रयाग-इलाहाबाद में निर्मित भव्य कैलाशपर्वत

भगवान पुष्पदंतनाथ जन्मभूमि काकंदी (देवरिया) उ.प्र. में निर्मित भव्य जिनमंदिर

भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की जन्मभूमि हस्तिनापुर में निर्मित
विश्व की अद्वितीय रचना जम्बूद्वीप

जम्बूद्वीप–हस्तिनापुर में निर्मित तेरहद्वीप रचना

978-93-82071-53-2